वर्ष ३८] * * * [अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

संस्करण—१,२८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०२१, अक्टूबर १९६४

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु०१०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
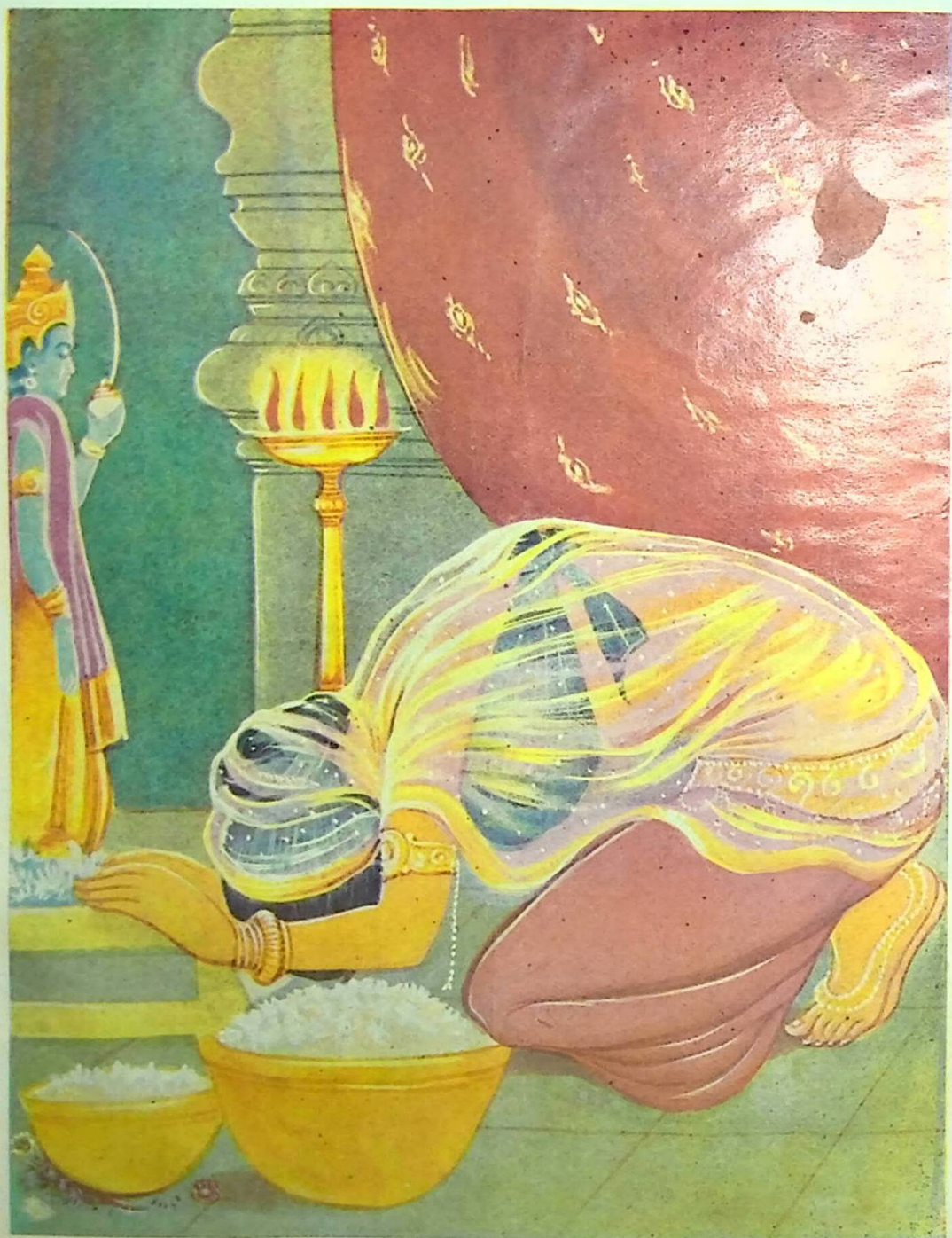
नमस्कार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०२१, अक्टूबर १९६४ { संख्या १० पूर्ण संख्या ४५५

नमस्कार

दृढ़ रति, मन विश्वास अति, श्रद्धा सरल सुभाव ।
माधव-विग्रह-अर्चना करती मन अति चाव ॥
प्रतिदिन नियमित समय पर ले पूजा-सम्भार ।
सरस-हृदय नित पूजती समुद विविध उपचार ॥
नमस्कार करती सदा, कर पूजा सम्पन्न ।
सर्व-समर्पण भाव शुचि होता मन उत्पन्न ॥

याद रक्खो—जो भला बनना नहीं चाहता, पर भला कहलाना चाहता है, वह तो स्वयं अपनेको धोखा देता ही है, पर जो किसी अंशमें भला बनकर उसका अभिमान करता है, वह भी हानि ही उठाता है।

याद रक्खो—मनुष्यको हर क्षेत्रमें भला बननेकी निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये, परंतु भलाईका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये। अभिमान आते ही उससे कई बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। अभिमान दूसरोंका अपमान-तिरस्कार करता है। अभिमानीमें लोग बुराई ढूँढ़कर उसके अभिमानको मिटाना चाहते हैं, इससे परस्पर कलह-द्वेष होता है और मनुष्यकी भले बननेकी साधना परस्परके द्वेष-साधनमें परिणत हो जाती है।

याद रक्खो—सदा सत्यका सेवन करना बहुत अच्छा है, करना ही चाहिये। परंतु 'मैं कभी झूठ नहीं बोलता, मैं कभी असत्य बोला ही नहीं' ऐसी अभिमानभरी बात नहीं करनी चाहिये। मैं कभी असत्य बोला ही नहीं—विचार करके देखनेपर पता लगेगा कि इसमें भी असत्य है। सावधान रहते-रहते भी भूलसे कभी-कभी असत्य बोला ही जाता है। भगवान्की कृपासे सत्यका पालन करते हुए भगवत्कृपाको ही श्रेय देना चाहिये।

याद रक्खो—जो मनुष्य अभिमानसे यह कहता है कि मुझसे कभी भूल होती ही नहीं, वह बहुत बड़ी-बड़ी भूलें किया करता है। जो कहता है कि मुझे कभी क्षोभ होता ही नहीं, वह बहुत जल्दी क्षुब्ध हो जाया करता है। अपनी कमजोरियोंके लिये भगवान्से बल माँगते हुए प्रयत्नशील रहना चाहिये, जिससे मन क्षुब्ध न हो।

याद रक्खो—जिन लोगोंके दोष बतानेवाले कम और प्रशंसा करनेवाले अधिक होते हैं, उनको बहुत जल्दी क्षोभ होता है; क्योंकि वे आलोचना सुननेके अभ्यस्त ही नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें क्षोभके आवेशमें ऐसी बातें बोली जाती हैं, जिनको विचार आनेपर वे स्वयं अच्छी नहीं समझते और फिर अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये उनको नयी-नयी बातें गढ़कर मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है।

याद रक्खो—मनुष्यकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, मन संसारकी मायासे ग्रस्त है, सदा ध्यान रखनेवालोंसे भी भूल हो जाती है। अतएव मनुष्यको कभी यह मानकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये कि मेरे जीवनसे सारे दोष-दुर्विचार सर्वथा निकल गये हैं और न कभी अभिमान ही करना चाहिये। वरं भगवान्के सामने सदा विनम्र रहते हुए अपने जरा-से दोषके लिये भी पश्चात्ताप करना तथा अपनेको दोषी मानना चाहिये। भगवद्विश्वासी मनुष्य जितना ही अपनेको दोष-दुर्बल और साधनहीन मानता है, उतना ही वह परम करुणासागर भगवान्का अधिक आश्रय प्राप्त करता है एवं उतनी ही उसके दोषोंकी समाप्ति होती है।

याद रक्खो—स्वयं भगवान् भी अभिमानीके साथ द्वेषीका-सा बर्ताव करके उसके अभिमानको मिटाकर उसे पवित्र-जीवन बनाना चाहते हैं। इसीसे भगवान्को दैन्य प्रिय है।

याद रक्खो—भगवान्का अनुयायी, उनका प्रेमी, उनपर विश्वास करनेवाला सदा ही विनम्र और अभिमान-शून्य होता है। वह अपनेको सर्वथा निर्बल देखता है और भगवान्के अपार अपरिसीम बलका आश्रय ग्रहण कर उस बलसे तमाम दोषोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है।

याद रक्खो—अभिमान भगवान्से दूर करता है और दैन्य भगवान्के चरणोंमें पहुँचा देता है।

'शिव'

भागवतकी भूमिका

(लेखक--अध्यापक श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

(१)

आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने अति प्राचीन कालसे विचित्र धारामें प्रवाहित भारतीय साधनाका समन्वय करने, विभिन्न श्रेणियों, उपश्रेणियोंमें विभक्त हिंदूजातिको संघबद्ध करके एक महाजातिमें परिणत करने, इस विशाल महादेशके सब प्रदेशोंमें विचित्र-प्रकृतिविशिष्ट असंख्य नर-नारियोंमें एक महान् मानवधर्मके आदर्शका प्रचार करनेके लिये अपना सुदीर्घ जीवन व्यतीत किया था। वृद्धावस्थामें वे बदरिकाश्रममें समाधिस्थ होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करनेके लिये तैयार हो रहे थे, परंतु उनके हृदयमें एक बाधा आ उपस्थित हुई। उनको ऐसा लगा मानो उनका कर्मजीवन, आचार्य-जीवन अभी पूर्णतः सार्थक नहीं हुआ है, जिस महान् उद्देश्यको लेकर भारतमें युगसंधिके समय भगवान् श्रीकृष्णके एक अनन्य साधारण लीलासहचरके रूपमें वे अवतीर्ण हुए थे, वह उद्देश्य सर्वाङ्गसुन्दर रूपमें सिद्ध नहीं हुआ। उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें भीतर-ही-भीतर अपनी अकृतार्थताका बोध होने लगा।

जागतिक जीवनमें समस्त कर्तव्योंका सम्यक् रूपमें सम्पादन होनेपर तथा जीवनके सारे कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेपर, हृदयमें जैसी पूर्णता और स्वच्छताका अनुभव होना ऐसे महामना और महाप्राण पुरुषके लिये स्वाभाविक है, वैसा न होनेके कारण उनके मनमें विषाद और अस्वस्थता उत्पन्न हो गयी; परंतु उनकी समझमें ठीक-ठीक नहीं आ रहा था कि उनके जीवनका कौन-सा विशेष आवश्यक कर्म बाकी रह गया है। भारतीय संस्कृति और सभ्यताको सुप्रतिष्ठित करना, सब श्रेणियोंके नर-नारियोंके इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणके लिये भारतके प्राचीन और आधुनिक श्रेष्ठतम मनीषियोंके साधनोपलब्ध सत्योंके संकलन तथा शिक्षा-दीक्षाके द्वारा सर्वत्र प्रचारकी व्यवस्था करना, शिक्षित-अशिक्षित, भद्र-अभद्र, ऊँच-नीच, सभी स्तरोंके मनुष्योंके लिये धर्म और मोक्षका पथ तथा धर्मानुकूल काम और अर्थके पथको प्रदर्शन करना, सारे भारतवर्षमें एक जीवनादर्श, एक धर्मचक्र, एक सभ्यता और संस्कृतिका राजत्व स्थापित करना, आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-चाण्डाल, भोगी-तपस्वी, गृही-संन्यासी सबको एक सार्वजनिक आध्यात्मिक आदर्शद्वारा अनुप्राणित करके एक अखण्ड हिंदूसमाजमें गठित करना और उनकी विभिन्न प्रकारकी जीवनधाराकी विशेषताकी रक्षा करते हुए एक ही चरम लक्ष्यकी ओर सबकी जीवनधाराको प्रवाहित करना, भारतकी सारी जाति, सारे वर्ण, सारे सम्प्रदायोंमें एक सुदृढ़, चिरस्थायी एकताकी सृष्टि करना और उनकी आपात-विभिन्नमुखी साधन-पद्धतियोंको एक ही योगसूत्रमें बाँधना ही उनके कर्मजीवनका व्रत था। अपने ज्ञान और विश्वासके अनुसार इस सुमहान् व्रतका सम्पादन उन्होंने सुचारु रूपसे किया था।

वेद, उपनिषद्, स्मृति और आगमोंको एक सूत्रमें ग्रथित करके, वेदान्तदर्शन, महाभारत और पुराणसंहिताओंकी रचना करके, देश-काल और अवस्थाके भेदसे नियमितरूपसे सबके अध्ययन-अध्यापन तथा बहुल प्रचारकी व्यवस्था करके एक ही जीवनदर्शनके अनुयायी विभिन्न वर्गोंके मनुष्योंकी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐहिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक जीवनकी नाना प्रकारकी समस्याओंके युक्तिपूर्ण समाधानका पथ-प्रदर्शन करके, नाना प्रकारकी विरोधी शक्तियोंमें अशान्ति पैदा करनेवाले वाद-विवादके निराकरणमें अपनी प्रतिभा और प्रभावका उपयोग करके अपने आचार्यत्वके सारे कर्मोंका सुचारुरूपसे सम्पादन किया था।

उन्होंने वेद और उपनिषद्के विधि-निषेधात्मक और तत्त्व-प्रतिपादक वाक्योंका जैसा समन्वय प्रदर्शित किया है, महाभारत और पुराणोंमें, विचित्र रुचि एवं बुद्धिसम्पन्न तथा विभिन्न परिस्थितिमें निपतित नर-नारियोंके जीवनको परम कल्याणके पथपर संचालित करनेके उद्देश्यसे जिस प्रकार सबके जीवनादर्शकी एकता और प्रत्येकके व्यावहारिक स्वधर्मकी विचित्रताका निर्देश किया है, अनार्य साधनाको आर्यसाधनाके साथ, शूद्र-साधनाको ब्राह्मण-साधनाके साथ, कर्मसाधनाको ज्ञानसाधनाके साथ, विभिन्न देवताओंकी उपासनाको अद्वय ब्रह्मतत्त्वके अनुसंधानके साथ, सारे जातीय कर्तव्योंके अनुष्ठानको नैष्कर्म्यके साथ जिस प्रकार निपुणतापूर्वक उन्होंने जोड़ दिया है, उससे किसीके किसीके साथ धर्म और परमार्थके सम्बन्धमें विरोधकी सम्भावना ही नहीं रह गयी है। शूद्र,

चण्डाल, व्याध आदि भी ऐकान्तिक निष्ठापूर्वक अपने-अपने कर्तव्यकर्मके भलीभाँति सम्पादनद्वारा तथा अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिके अनुशीलनके द्वारा भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं तथा ब्राह्मण और संन्यासी गुरुपदपर आसीन हो सकते हैं—यह प्रदर्शित करके सब जातियोंके नर-नारियोंमें उन्होंने मनुष्योचित आत्मगौरव जाग्रत् किया है तथा उच्च कुलोत्पन्न और उच्च-शिक्षाभिमानी नर-नारियोंके मनुष्यत्व-विघातक और मोक्ष-विरोधी अभिमानको चूर-चूर करके उनका परम कल्याण-साधन किया है।

कर्मकाण्डकी जटिलता और आडम्बरकी अपेक्षा मनुष्य-जीवनमें सत्य, सरलता, अहिंसा, अस्तेय, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, अमानित्व, अदम्भित्व, क्षमा, अक्रोध, प्रेम, पवित्रता आदि व्रतोंके अधिकाधिक महत्त्व, दान, सेवा, परहितमें आत्मोत्सर्ग आदि सत्कर्मोंके श्रेष्ठत्व और भगवान्में ऐकान्तिकी भक्ति तथा सब जीवोंमें आत्मवत् प्रेमकी अतुलनीय गरिमाकी स्पष्ट और बारंबार घोषणा करके उन्होंने धर्मको विश्वजनीन भित्तिपर प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार उन्होंने सनातन मानवधर्मका विचित्र अवयवसम्पन्न एक सर्वाङ्गसुन्दर, समुज्ज्वल आदर्श मानव-समाजके सामने समुपस्थित किया है। आचार्यसे इससे बढ़कर और किस महान् कर्मकी आशा की जा सकती है ? प्राचीन कालसे भारतमें असंख्य आचार्योंका आविर्भाव हुआ है, परंतु श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका आचार्यत्व अपूर्व था। आज भी वे सारे भारतमें सब सम्प्रदायोंके सर्वश्रेष्ठ गुरुके रूपमें पूजित हैं। भारतीय साधना और संस्कृतिके वे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं।

(२)

यह सब कुछ करके भी उनके चित्तको शान्ति नहीं मिली। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन बहुत सोचनेपर भी इसका कारण निश्चय न कर सके। ऐसे समयमें भगवत्प्रेरणासे देवर्षि नारद उनके पास स्वयं आकर उपस्थित हो गये। व्यासजीको किंचित् चिन्ताग्रस्त देखकर देवर्षिने इसका कारण पूछा। व्यासजीने अपने हृदयकी समस्या देवर्षिसे निवेदन करके कहा, 'मैं इस अशान्ति और अपूर्णताका कारण नहीं समझ पा रहा हूँ। आप सर्वान्तर्दर्शी और सर्वज्ञ हैं; आप इसका कारण समझा दें तथा इससे निष्कृतिका उपाय बतला दें।' भागवत-धर्मके महान् गुरु भगवत्पार्षद देवर्षि नारद भारतीय साधनाके प्रधान आचार्य श्रीकृष्णद्वैपायनकी आन्तरिक समस्याको दिव्यदृष्टिसे देखकर ही बदरिकाश्रममें उपस्थित हुए थे तथा उनके आचार्यत्वका जो कृतित्व शेष रह गया था, उसके सम्बन्धमें उपदेश देनेके उद्देश्यसे ही उनके सामने प्रकट हुए थे। नारदजीने आचार्यको समझाया कि अबतक उन्होंने जिस रूपमें धर्म-प्रचार किया है, उससे मानवधर्मका सम्यक् प्रचार तो हुआ है, परंतु भागवत-धर्मका यथार्थ प्रचार नहीं हुआ है। अतएव उनके कार्यका प्रधान अंश अवशिष्ट रह गया है।

विश्वजनीन सनातन धर्मके साधन-क्षेत्रमें दो भाव-धाराएँ सतत प्रवाहित रहती हैं, एक मानवधर्मके और दूसरा भागवतधर्मके नामसे प्रसिद्ध है। मानवधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य अपनेको, अपनी अहमिकाको ही सब प्रकारकी साधनाका केन्द्र बनाकर अपने उद्देश्यकी सिद्धिके पथमें अग्रसर होता है तथा भागवतधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य शुरूसे ही भगवान्को अपने जीवनके केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके साधनामें प्रवृत्त होता है। ये दोनों उसी प्रकार होते हैं, जैसे ज्योतिष शास्त्रके अनुशीलनमें पृथिवीकेन्द्रिक और सूर्यकेन्द्रिक आलोचना होती है। मानवधर्म और भागवत-धर्म दोनों मार्गोंमें धर्मके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग विद्यमान हैं तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी आवश्यकता है। परंतु दोनोंके दृष्टिकोणमें महान् अन्तर है। जीवनको योग-युक्त करना, कर्म-ज्ञान और भक्तिका समन्वय करके, तमोगुण और रजोगुणके प्रभावसे देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको मुक्त करके समस्त जीवनको विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त करना, ऐहिक जीवनके ऊपर आध्यात्मिक जीवनका आधिपत्य स्थापित करना—ये सब दोनों ही भावधाराओंमें समानरूपसे आवश्यक हैं तथापि मानव-धर्मकी और भागवतधर्मकी विचारधारा और अनुशीलन-प्रणाली ठीक एक-जैसी नहीं है।

(३)

मानव-धर्मका मूल स्रोत है मनुष्यकी प्रकृति तथा पुरुषार्थ, स्वभाव और प्रयोजन। सीमाबद्ध देह-इन्द्रिय-मन और बुद्धि-विशिष्ट मनुष्य स्वभावतः जीवित रहना चाहता है, सुखभोग करना चाहता है, जीवन और सुखको दीर्घ-कालव्यापी बनानेके उद्देश्यसे तथा जीवन-विकास और

…सम्भोगकी सामग्री उत्तरोत्तर वर्द्धित करनेके उद्देश्यसे …सम्पत्ति अर्जन करना और संचित करना चाहता है; इस …देश्यसे समाजमें प्रतिष्ठा, राष्ट्रमें प्रतिष्ठा तथा पराक्रम, ऐश्वर्य और प्रभाव जमाना चाहता है, परस्पर पारिवारिक, राष्ट्रीय और सामाजिक नाना प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त रह-कर तथा पारस्परिक सहयोगिताके प्रतियोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक शक्तियोंके साथ जीवन-संग्राममें विजयी होकर इस नश्वर जगत्में अमरत्व प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकारकी प्रेरणा मानवके लिये स्वभावसिद्ध होनेपर भी इतना ही उसके स्वभावका परिपूर्ण स्वरूप नहीं है। उसके भीतर एक उचित-अनुचित-बोध है, श्रेय और प्रेयके भेदका बोध है, धर्माधर्म और पुण्य-पापकी अनुभूति है, सांसारिक प्रयोजनके ऊपर आदर्शकी अनुप्राणना है, सुख-स्वच्छन्दमय जीवनके ऊपर कल्याणमय महत्तर जीवनकी आकाङ्क्षा है। मनुष्य स्वभाववश देहेन्द्रिय आदिके प्रयोजनकी ताड़नामें, जो कुछ चाहता है और जो कुछ करता है, वह चाहना ठीक है या नहीं, करना उचित है या नहीं—यह प्रश्न मनुष्यके अन्तःकरणमें विवेक-बुद्धिके सामने अपने-आप उदित होता है। यह उचित-अनुचित-बोध ही मानवधर्मकी भित्ति है। यही बोध मनुष्यकी स्वाभाविक आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके इनको नियन्त्रित करता है। इस मानवधर्मको कोई-कोई सम्प्रदाय विधि-निषेधात्मक बतलाते हैं; किंतु उचित-अनुचितका मापदण्ड क्या है? किसकी विधि और निषेधके अनुसार, किस आदर्शके अनुसार, किस कल्याणकी प्राप्तिकी प्रेरणासे, मनुष्यमात्रकी आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके सुनियन्त्रित होनेपर यथार्थ धर्मसाधना होगी, मानव-जीवन कृतार्थ हो सकेगा? विभिन्न मनुष्योंके उचित-अनुचित तथा आदर्श-सम्बन्धी धारणा उनकी स्वाभाविक वासना, कामना तथा पारिपार्श्विक अवस्थाके प्रभाव और शिक्षा-दीक्षाके प्रकार-भेदके द्वारा प्रभावित होती है। इसी कारण आचार्य लोग कहते हैं कि वासना-कामना-रहित शुद्धचित्त ऋषियोंके हृदयमें स्वयं आविर्भूत कल्याणके आदर्श, अभ्युदय और निःश्रेयसके आदर्श तथा विधि-निषेधकी नीति साधारण लोगोंके उचित-अनुचित या कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें नियामक मानी जाती हैं। इस आदर्श और नीतिको वेद या शास्त्रके रूपमें मानव-समाज ग्रहण करता आ रहा है। वेद-निर्दिष्ट उचित मार्ग अथवा श्रेय पथका अनुसरण और अनुचित मार्ग अथवा प्रेयपथका परित्याग ही धर्म है।

परंतु पुनः प्रश्न उठता है कि मनुष्य उचित कर्मोंका सम्पादन करके और अनुचित कर्मका परिहार करके, श्रेय या कल्याणपथका अनुसरण करके तथा उसके निमित्त त्यागनिष्ठ होकर और क्लेश वरण करके अन्तमें किस उद्देश्यको प्राप्त करें? मानव-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है? किस वस्तुकी प्राप्तिसे उसकी पानेकी चाह समाप्त हो जायगी? इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़कर मनीषियोंने बतलाया है कि मानव-जीवनका चरम लक्ष्य निःश्रेयस या मुक्ति है, सब प्रकारके दुःख-दैन्य, सब प्रकारके बन्धन और पराधीनता, सब प्रकारके अभाव और अपूर्णताके बोधसे आत्यन्तिक निष्कृति लाभ करना है। मुक्तिके प्राप्त होनेसे ही मानव-जीवनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, परम कल्याणकी प्राप्ति होती है और जीवन परिपूर्ण हो जाता है। मुक्तिको लक्ष्य करके इसकी प्राप्तिके उपायके रूपमें मनुष्यको धर्म-साधना करनी पड़ेगी। श्रेयपथमें क्लेशका बाहुल्य होनेपर भी उसका अनुसरण करना पड़ेगा और आपातरमणीय होनेपर भी अश्रेयपथका त्याग करना पड़ेगा। परंतु इस संसारमें देह, इन्द्रिय और मनके सम्यक् व्यवहारद्वारा ही जब मनुष्यको धर्म-साधना और मुक्ति-प्राप्तिकी चेष्टा करनी पड़ती है, तब स्वास्थ्य, सुख, अर्थ आदिकी पूर्णतः उपेक्षा करके मोक्षकी ओर अग्रसर होना सम्भव नहीं। अतएव परिवार, समाज, राष्ट्र आदिके सम्बन्धमें भी पूर्णरूपसे उदासीन होनेसे काम नहीं चलेगा। अतएव मोक्षके अनुकूल धर्म, धर्मके अनुकूल अर्थ तथा जीवन-धारणके अनुकूल सुखभोग भी मानवीय साधनाके अङ्ग माने गये हैं। मोक्ष (अर्थात् जीवनकी सम्यक् और चिरस्थायी परिपूर्णताकी अनुभूति), तदनुकूल धर्मसाधना (अर्थात् जीवनके प्रत्येक विभागको उस परम कल्याणके पथमें परिचालित करना), तदनुकूल या तद्विरोधी अर्थ-साधना (अर्थात् व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें यथासम्भव सुप्रतिष्ठा-प्राप्तिकी प्रचेष्टा) एवं तदनुकूल काम (अर्थात् देह और इन्द्रियोंके सुख-सम्भोगके लिये सुनियन्त्रित प्रयत्न)—ये ही मनुष्यकी जीवन-साधनाके चतुर्वर्ग हैं। इस चतुर्वर्गका समन्वय सिद्ध हुए बिना मानव-जीवन पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है।

चण्डाल, व्याध आदि भी ऐकान्तिक निष्ठापूर्वक अपने-अपने कर्तव्यकर्मके भलीभाँति सम्पादनद्वारा तथा अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिके अनुशीलनके द्वारा भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं तथा ब्राह्मण और संन्यासी गुरुपदपर आसीन हो सकते हैं—यह प्रदर्शित करके सब जातियोंके नर-नारियोंमें उन्होंने मनुष्योचित आत्मगौरव जाग्रत् किया है तथा उच्च कुलोत्पन्न और उच्च-शिक्षाभिमानी नर-नारियोंके मनुष्यत्व-विघातक और मोक्ष-विरोधी अभिमानको चूर-चूर करके उनका परम कल्याण-साधन किया है।

कर्मकाण्डकी जटिलता और आडम्बरकी अपेक्षा मनुष्य-जीवनमें सत्य, सरलता, अहिंसा, अस्तेय, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, अमानित्व, अदम्भित्व, क्षमा, अक्रोध, प्रेम, पवित्रता आदि व्रतोंके अधिकाधिक महत्त्व, दान, सेवा, परहितमें आत्मोत्सर्ग आदि सत्कर्मोंके श्रेष्ठत्व और भगवान्में ऐकान्तिकी भक्ति तथा सब जीवोंमें आत्मवत् प्रेमकी अतुलनीय गरिमाकी स्पष्ट और बारंबार घोषणा करके उन्होंने धर्मको विश्वजनीन भित्तिपर प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार उन्होंने सनातन मानवधर्मका विचित्र अवयवसम्पन्न एक सर्वाङ्गसुन्दर, समुज्ज्वल आदर्श मानव-समाजके सामने समुपस्थित किया है। आचार्यसे इससे बढ़कर और किस महान् कर्मकी आशा की जा सकती है? प्राचीन कालसे भारतमें असंख्य आचार्योंका आविर्भाव हुआ है, परंतु श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका आचार्यत्व अपूर्व था। आज भी वे सारे भारतमें सब सम्प्रदायोंके सर्वश्रेष्ठ गुरुके रूपमें पूजित हैं। भारतीय साधना और संस्कृतिके वे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं।

(२)

यह सब कुछ करके भी उनके चित्तको शान्ति नहीं मिली। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन बहुत सोचनेपर भी इसका कारण निश्चय न कर सके। ऐसे समयमें भगवत्प्रेरणासे देवर्षि नारद उनके पास स्वयं आकर उपस्थित हो गये। व्यासजीको किंचित् चिन्താग्रस्त देखकर देवर्षिने इसका कारण पूछा। व्यासजीने अपने हृदयकी समस्या देवर्षिसे निवेदन करके कहा, 'मैं इस अशान्ति और अपूर्णताका कारण नहीं समझ पा रहा हूँ। आप सर्वान्तर्दर्शी और सर्वज्ञ हैं, आप इसका कारण समझा दें तथा इससे निष्कृतिका उपाय बतला दें।' भागवत-धर्मके महान् गुरु भगवत्पार्षद देवर्षि ने भारतीय साधनाके प्रधान आचार्य श्रीकृष्णद्वैपायनकी आन्तरिक समस्याको दिव्यदृष्टिसे देखकर ही बदरिकाश्रममें उपस्थित हुए थे तथा उनके आचार्यत्वका जो कृतित्व शेष रह गया था, उसके सम्बन्धमें उपदेश देनेके उद्देश्यसे ही उनके सामने प्रकट हुए थे। नारदजीने आचार्यको समझाया कि अबतक उन्होंने जिस रूपमें धर्म-प्रचार किया है, उससे मानवधर्मका सम्यक् प्रचार तो हुआ है, परंतु भागवत-धर्मका यथार्थ प्रचार नहीं हुआ है। अतएव उनके कार्यका प्रधान अंश अवशिष्ट रह गया है।

विश्वजनीन सनातन धर्मके साधन-क्षेत्रमें दो भाव-धाराएँ सतत प्रवाहित रहती हैं, एक मानवधर्मके और दूसरा भागवतधर्मके नामसे प्रसिद्ध है। मानवधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य अपनेको, अपनी अहमिकाको ही सब प्रकारकी साधनाका केन्द्र बनाकर अपने उद्देश्यकी सिद्धिके पथमें अग्रसर होता है तथा भागवतधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य शुरूसे ही भगवान्को अपने जीवनके केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके साधनामें प्रवृत्त होता है। ये दोनों उसी प्रकार होते हैं, जैसे ज्योतिष शास्त्रके अनुशीलनमें पृथिवीकेन्द्रिक और सूर्यकेन्द्रिक आलोचना होती है। मानवधर्म और भागवत-धर्म दोनों मार्गोंमें धर्मके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग विद्यमान हैं तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी आवश्यकता है। परंतु दोनोंके दृष्टिकोणमें महान् अन्तर है। जीवनको योग-युक्त करना, कर्म-ज्ञान और भक्तिका समन्वय करके, तमोगुण और रजोगुणके प्रभावसे देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको मुक्त करके समस्त जीवनको विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त करना, ऐहिक जीवनके ऊपर आध्यात्मिक जीवनका आधिपत्य स्थापित करना—ये सब दोनों ही भावधाराओंमें समानरूपसे आवश्यक हैं तथापि मानवधर्मकी और भागवतधर्मकी विचारधारा और अनुशीलन-प्रणाली ठीक एक-जैसी नहीं है।

(३)

मानव-धर्मका मूल स्रोत है मनुष्यकी प्रकृति तथा पुरुषार्थ, स्वभाव और प्रयोजन। सीमाबद्ध देह-इन्द्रिय-मन और बुद्धि-विशिष्ट मनुष्य स्वभावतः जीवित रहना चाहता है, सुखभोग करना चाहता है, जीवन और सुखको दीर्घ-कालव्यापी बनानेके उद्देश्यसे तथा जीवन-विकास और

…सम्भोगकी सामग्री उत्तरोत्तर वर्द्धित करनेके उद्देश्यसे …सम्पत्ति अर्जन करना और संचित करना चाहता है; इस …देश्यसे समाजमें प्रतिष्ठा, राष्ट्रमें प्रतिष्ठा तथा पराक्रम, ऐश्वर्य और प्रभाव जमाना चाहता है, परस्पर पारिवारिक, राष्ट्रीय और सामाजिक नाना प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त रहकर तथा पारस्परिक सहयोगिताके प्रतियोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक शक्तियोंके साथ जीवन-संग्राममें विजयी होकर इस नश्वर जगत्में अमरत्व प्राप्त करना चाहता है । इस प्रकारकी प्रेरणा मानवके लिये स्वभावसिद्ध होनेपर भी इतना ही उसके स्वभावका परिपूर्ण स्वरूप नहीं है । उसके भीतर एक उचित-अनुचित-बोध है, श्रेय और प्रेयके भेदका बोध है, धर्माधर्म और पुण्य-पापकी अनुभूति है, सांसारिक प्रयोजनके ऊपर आदर्शकी अनुप्राणना है, सुख-स्वच्छन्दमय जीवनके ऊपर कल्याणमय महत्तर जीवनकी आकाङ्क्षा है । मनुष्य स्वभाववश देहेन्द्रिय आदिके प्रयोजनकी ताड़नामें, जो कुछ चाहता है और जो कुछ करता है, वह चाहना ठीक है या नहीं, करना उचित है या नहीं—यह प्रश्न मनुष्यके अन्तःकरणमें विवेक-बुद्धिके सामने अपने-आप उदित होता है । यह उचित-अनुचित-बोध ही मानवधर्मकी भित्ति है । यही बोध मनुष्यकी स्वाभाविक आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके इनको नियन्त्रित करता है । इस मानवधर्मको कोई-कोई सम्प्रदाय विधि-निषेधात्मक बतलाते हैं; किंतु उचित-अनुचितका मापदण्ड क्या है ? किसकी विधि और निषेधके अनुसार, किस आदर्शके अनुसार, किस कल्याणकी प्राप्तिकी प्रेरणासे, मनुष्यमात्रकी आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके सुनियन्त्रित होनेपर यथार्थ धर्मसाधना होगी, मानव-जीवन कृतार्थ हो सकेगा ? विभिन्न मनुष्योंके उचित-अनुचित तथा आदर्श-सम्बन्धी धारणा उनकी स्वाभाविक वासना, कामना तथा पारिपार्श्विक अवस्थाके प्रभाव और शिक्षा-दीक्षाके प्रकार-भेदके द्वारा प्रभावित होती है । इसी कारण आचार्य लोग कहते हैं कि वासना-कामना-रहित शुद्धचित्त ऋषियोंके हृदयमें स्वयं आविर्भूत कल्याणके आदर्श, अभ्युदय और निःश्रेयसके आदर्श तथा विधि-निषेधकी नीति साधारण लोगोंके उचित-अनुचित या कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें नियामक मानी जाती हैं । इस आदर्श और नीतिको वेद या शास्त्रके रूपमें मानव-समाज ग्रहण करता आ रहा है । वेद-निर्दिष्ट उचित मार्ग अथवा श्रेय पथका अनुसरण और अनुचित मार्ग अथवा प्रेयपथका परित्याग ही धर्म है ।

परंतु पुनः प्रश्न उठता है कि मनुष्य उचित कर्मोंका सम्पादन करके और अनुचित कर्मका परिहार करके, श्रेय या कल्याणपथका अनुसरण करके तथा उसके निमित्त त्यागनिष्ठ होकर और क्लेश वरण करके अन्तमें किस उद्देश्यको प्राप्त करें ? मानव-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है ? किस वस्तुकी प्राप्तिसे उसकी पानेकी चाह समाप्त हो जायगी ? इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़कर मनीषियोंने बतलाया है कि मानव-जीवनका चरम लक्ष्य निःश्रेयस या मुक्ति है, सब प्रकारके दुःख-दैन्य, सब प्रकारके बन्धन और पराधीनता, सब प्रकारके अभाव और अपूर्णताके बोधसे आत्यन्तिक निष्कृति लाभ करना है । मुक्तिके प्राप्त होनेसे ही मानव-जीवनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, परम कल्याणकी प्राप्ति होती है और जीवन परिपूर्ण हो जाता है । मुक्तिको लक्ष्य करके इसकी प्राप्तिके उपायके रूपमें मनुष्यको धर्म-साधना करनी पड़ेगी । श्रेयपथमें क्लेशका बाहुल्य होनेपर भी उसका अनुसरण करना पड़ेगा और आपातरमणीय होनेपर भी अश्रेयपथका त्याग करना पड़ेगा । परंतु इस संसारमें देह, इन्द्रिय और मनके सम्यक् व्यवहारद्वारा ही जब मनुष्यको धर्म-साधना और मुक्ति-प्राप्तिकी चेष्टा करनी पड़ती है, तब स्वास्थ्य, सुख, अर्थ आदिकी पूर्णतः उपेक्षा करके मोक्षकी ओर अग्रसर होना सम्भव नहीं । अतएव परिवार, समाज, राष्ट्र आदिके सम्बन्धमें भी पूर्णरूपसे उदासीन होनेसे काम न चलेगा । अतएव मोक्षके अनुकूल धर्म, धर्मके अनुकूल अर्थ तथा जीवन-धारणके अनुकूल सुखभोग भी मानवीय साधनाके अङ्ग माने गये हैं । मोक्ष (अर्थात् जीवनकी सम्यक् और चिरस्थायी परिपूर्णताकी अनुभूति), तदनुकूल धर्मसाधना (अर्थात् जीवनके प्रत्येक विभागको उस परम कल्याणके पथमें परिचालित करना), तदनुकूल या तद्विरोधी अर्थ-साधना (अर्थात् व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें यथासम्भव सुप्रतिष्ठा-प्राप्तिकी प्रचेष्टा) एवं तदनुकूल काम (अर्थात् देह और इन्द्रियोंके सुख-सम्भोगके लिये सुनियन्त्रित प्रयत्न)—ये ही मनुष्यकी जीवन-साधनाके चतुर्वर्ग हैं । इस चतुर्वर्गका समन्वय सिद्ध हुए बिना मानव-जीवन पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।

सम्भोग कर रहे हैं। यही उनका लीलाविलास है—
'स्वभाव एष देवस्य ।'

(६)

मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह ज्ञानपूर्वक और प्रेमपूर्वक अनन्त-ज्ञान-प्रेममय भगवान्‌के इस आत्मास्वादनमें योगदान करनेका अधिकारी है, अपने भीतर और बाहर, सर्वदा और सर्वत्र भगवान्‌की इस विचित्र लीलाका सम्भोग करनेमें वह समर्थ है। उसके देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको भगवान् अपने सम्भोग्यरूपमें इस प्रकार गढ़ देते हैं। तत्सम्बन्धी जितने व्यापार हैं, उनको भगवान् अपने आनन्द-आस्वादनके उपकरणके रूपमें नियन्त्रित करते हैं। उनके साथ जितने लोगोंका जितने प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है, अन्यान्य प्राणियोंके साथ और जड प्रकृतिके साथ उनका जितने प्रकारके सम्बन्धका उद्भव और विलय हो रहा है, उन सब सम्बन्धोंके भीतर उनके साथ आदान-प्रदान और घात-प्रतिघातके भीतर उनके जितने प्रकारके सुख-दुःखके भोग और जितने प्रकारके पुरुषार्थ और भावावेशके संचार हो रहे हैं, वे सब भगवान्‌के रस-सम्भोगके उपादान हैं तथा उनके रस-सम्भोगके लिये ही सबका विकास हो रहा है। इस महान् सत्यकी भीतर-ही-भीतर उपलब्धि करनेका अधिकार ही मनुष्यत्व है और इसकी उपलब्धिमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। इस तत्त्वकी उपलब्धि और तदर्थ साधनकी चेष्टाके आकारमें मानवजीवनमें भगवान्‌का लीला-विलास है। जिस मनुष्यको इस सत्यकी उपलब्धिकी योग्यता प्राप्त होती है, वह अपने देहके साथ, प्रत्येक इन्द्रियके साथ, प्रत्येक मनोवृत्तिके साथ, प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाके साथ भगवान्‌का साक्षात् योग अनुभव करके आनन्दमें अपने आपको भूल जाता है। रसराज भगवान् इनमेंसे प्रत्येकका प्रेमके साथ सम्भोग करते हैं, इसे उपलब्ध करके वे अपनी अहंवृत्तिका पूर्णरूपसे परित्याग कर अपनी सत्ताको प्रेमसे उसकी सत्तामें विलीन कर देते हैं। वह भीतर-बाहर प्रेममय होकर, अपनी सारी विषम वृत्तिको प्रेममें समरस करके, प्रेमानन्दमें अपने अभिमानको पूर्णतः विलीन करके, अपनी सारी पुरुषार्थ-साधन-बुद्धिका परित्याग करके, अनन्त प्रेमरसके आधार भगवान्‌में पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करता है। यह उसके सारे पुरुषार्थोंके परे परम पुरुषार्थ है। वह अभिमान परित्याग करके जितना ही प्रेमभावित होकर भगवान्‌में आत्मसमर्पण करता है, उतनी ही भगवान्‌की सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यमय स्वरूपास्वादनमें विभोर रसराज-मूर्ति उसे दृष्टिगोचर होती है, उतना ही भगवान् उसके प्रेमपूत हृदयमें आत्मप्रकाश करके उसके आस्वाद्य बनते हैं; उसके जीवनको आनन्दसे भरपूर कर देते हैं।

यही भागवती दृष्टिका अनुशीलन है, अपने जीवनके प्रत्येक व्यापारमें और सारे जगत्‌के प्रत्येक व्यापारमें भगवान्‌की आत्मप्रकाश और आत्मसम्भोगकी लीला आस्वादन करनेकी साधना है, इसीका नाम भागवतधर्म है। इसमें साधनाके प्रारम्भसे ही भगवान्‌को केन्द्र करके जीवन विकसित होता है। इस धर्म-साधनाके आदिमें भगवान्, मध्यमें भगवान् और अन्तमें भगवान् रहते हैं। इस धर्मकी दृष्टिमें, जहाँतक अहंबुद्धि है, जहाँतक अपने पुरुषार्थ-लाभकी आकाङ्क्षा है, जहाँतक अपनेको केन्द्र करके पुरुषार्थकी चेष्टा है, वहाँतक मायाकी अधीनता है, अविद्याका प्रभाव है। मोक्ष-प्राप्तिकी आकाङ्क्षाके मूलमें जो अहंबुद्धि है, उसमें भी इस दृष्टिसे अविद्याका बीज सूक्ष्म भावमें निहित है। अहंको भगवत्-चरणोंमें सम्यक् रूपसे समर्पण करना और तदुद्देश्यसे अहैतुकी भक्ति और प्रेमका अनुशीलन करना ही इस क्षेत्रकी साधना है।

इस साधनाके क्षेत्रमें भगवान्‌की लीलाका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, मनन और निदिध्यासन प्रधान अङ्ग हैं; स्वाभाविक मानवीय बुद्धिसे जहाँ पहले केवल जड प्राकृतिक नियम या जडशक्तियोंका संघर्ष अथवा जीवसमष्टि या जीवविशेषके कार्य, किंवा मनुष्यविशेष, सम्प्रदाय या जातिविशेषके कार्य दीख पड़ते थे, भागवतधर्मकी साधनामें उन सब स्थानोंमें दृष्टि-परिवर्तन करके भगवान्‌के लीलाविलासको देखनेका अभ्यास करना पड़ेगा। इस दृष्टिके अनुशीलनके लिये, सारे व्यापारोंमें भगवान्‌के लीला-विलासको हृदयंगम करनेके निमित्त, प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं, प्राकृतिक घटनाओं, नर-नारियोंके जीवनचरित, युगसंधिकालके विप्लवकी प्रधान कहानियाँ, जन-साधारणमें प्रचलित आख्यान—सबकी भगवान्‌की लीलाबुद्धिसे बारंबार आलोचना करना, चिन्तन करना, विचार करना, कीर्तन करना आवश्यक है। ऐसा करते-करते दृष्टि शुद्ध होती है और प्राकृतिक दृष्टिको

अभिभूत करके क्रमशः भागवत दृष्टि प्रधानताको प्राप्त करती है ।

इस अनुशीलनके साथ-साथ यह भी अनुभूति होती है कि भगवान्‌का हमारे ऊपर कितना प्रेम है । भगवान्‌की प्रत्येक लीला-कहानीके भीतर जीवके प्रति भगवान्‌का असीम प्रेम झलकता है । उनकी सारी लीला प्रेम-लीला है, उनके प्रेमानन्दस्वरूपका आत्म-प्रकाश और आत्मसम्भोग है । हमारे पार्थक्य-बोधके समक्ष हमारे प्रति उनकी सारी लीलाएँ उनके प्रेम और करुणाकी अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होती हैं । अपने प्रति भगवान्‌के अहैतुक प्रेमको स्मरण करते-करते स्वभावतः भगवान्‌के प्रति हमारा प्रेम जाग्रत् हो सकता है । पश्चात् वही प्रेम क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारी मनोवृत्तिको अभिभूत और अनुरञ्जित कर डालता है । भगवान्‌की प्रेम-लीलाके श्रवण-मननादि जितने ही व्यापक और गम्भीर होते हैं, भगवान्‌के प्रति हमारा प्रेम भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है तथा इस प्रेमवृद्धिके साथ-साथ अहं-बुद्धिका नाश और भीतर-बाहर सर्वत्र भगवान्‌के रस-स्वरूपकी उपलब्धि भी उतनी-ही-उतनी व्यापक और गम्भीर होती है । भगवान् अपनी स्वकीया स्वस्वभावभूता ह्लादिनी शक्तिको मनुष्यके अन्तरात्माके भीतर सदा प्रतिष्ठित रखते हैं । अपनी समस्त सत्ताको, व्यावहारिक जीवनके सारे विभागको इसी ह्लादिनी शक्तिके प्रकाशके रूपमें उपलब्ध करना और प्रेमानन्दमय रूपमें आस्वादन करना ही मनुष्यकी साधना है ।

(७)

मानव-समाजमें भागवत धर्मकी शिक्षा देनेके लिये भगवान्‌की लीला-कथा, मनुष्यादि सब जीवोंके प्रति भगवान्‌के प्रेम और करुणाकी कथा मुख्यरूपसे उपस्थित करना तथा समाजमें सर्वत्र इन कथाओंके प्रचारकी व्यवस्था करना प्रधान कार्य है । यह धर्म मानवमात्रका सहज धर्म है; क्योंकि प्रेम मनुष्यके लिये स्वभावसिद्ध है और मनुष्य जिससे प्रेम प्राप्त करता है, उसका प्रेम भी स्वभावतः उसीकी ओर प्रवाहित होता है । भगवान्‌को जब हम सर्वापेक्षा प्रेमिकके रूपमें देखते हैं, तब हमारी अन्तर्निहित प्रेमवृत्ति सहज ही उनकी ओर दौड़ती है अतएव मानव-समाजमें भगवान्‌की लीलाका प्रचार आचार्यका एक मुख्य कर्म था ।

देवर्षि नारदने आचार्य कृष्णद्वैपायनको समझाया कि उन्होंने मानवधर्मका समाजमें प्रचार किया है, परंतु भागवतधर्मका मुख्य रूपसे प्रचार नहीं किया, भगवान्‌के प्रेमानन्द-स्वरूपकी कथा तथा विश्व-प्रपञ्चमें उनके विचित्र रसान्वित लीला-विलासकी कथाका प्रधानतया जगत्‌में प्रचार नहीं किया । अतएव सत्य और धर्मकी एक प्रधान दिशामें सुविहित शिक्षा देनेकी व्यवस्था उन्होंने नहीं की, इसी कारण उनका आचार्य-भावविशिष्ट चित्त शान्ति अनुभव नहीं कर रहा है । किस विधिसे मानव-समाजमें भगवान्‌के लीलातत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिये, इस सम्बन्धमें देवर्षि नारदने आचार्य कृष्णद्वैपायनको संक्षेपमें उपदेश दिया और समाधिस्थ होकर उस तत्त्वके सम्यक् अनुसंधानमें लग जानेके लिये आदेश दिया । आचार्य कृष्णद्वैपायनके समाधि-निष्ठ चित्तमें भगवान् अपनी लीला स्वयं विस्तृतरूपमें प्रकट करेंगे—यह आशीर्वाद देकर भागवतधर्मके गुरु देवर्षि नारदने उनको भागवत-शास्त्र-प्रणयनका आदेश देकर वहाँसे प्रस्थान किया । आचार्यका चित्त प्रसन्न हो गया । वे समाधिस्थ होकर भागवती लीलाको प्रत्यक्ष करके उसका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो गये । भागवत-शास्त्रका प्रणयन तथा सारे मानव-समाजमें उसके प्रचारकी व्यवस्था करके महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने अपने आचार्यकृत्यको समाप्त किया तथा अपने अन्तःकरणमें परम शान्तिका अनुभव किया । उन्होंने अपने अलौकिक, सर्वजनविनिर्मुक्त पुत्र शुकदेवजीको इस भागवतधर्मके प्रति आकर्षित करके उनको भागवतधर्मके मुख्य आचार्यके रूपमें वरण किया । महाराज परीक्षित्‌के सामने खुली सभामें शुकदेवजीका उपदेश ही भागवतधर्मके मुख्य शास्त्रके रूपमें प्रचारमें आया ।

२—

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने मुझसे मिलनेकी इच्छा लिखी सो आपके प्रेमकी बात है; पर मेरा शरीर बहुत दिनोंसे अस्वस्थ चल रहा है । आप कलकत्तामें रहते हैं सो ठीक है; किंतु अभी तो मेरा कलकत्ता जानेका कोई प्रोग्राम नहीं है ।

युक्त आहार करनेमें और भगवान्‌का भजन करनेमें तो मनुष्य हरेक परिस्थितिमें स्वतन्त्र है । अतः निराश नहीं होना चाहिये । भजन-स्मरणका सम्बन्ध मानसिक भावसे है, परिस्थितिसे नहीं । हरेक कामको भगवान्‌का काम समझकर तथा अपने-आपको भगवान्‌का समझकर इनसे मिलनेकी लालसा तीव्र होनेसे हरेक परिस्थितिमें भगवान्‌का भजन-स्मरण श्रद्धा-प्रेमपूर्वक हो सकता है ।

उपदेश देनेकी तो मेरी सामर्थ्य नहीं है, सद्ग्रन्थोंसे जो बात समझमें आयी, वह आपसे निवेदन कर दी है। वही बात लेखों और पुस्तकोंमें लिखी जाती है ।

साधकको चाहिये कि वह दूसरेके दोष न देखे, किसीको बुरा न समझे, किसीका अहित न करे, किसीका बुरा न चाहे । मनमें बुरे संकल्प न उठने दे । हर समय भगवान्‌का भजन-स्मरण श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करता रहे । आगे-पीछेकी घटनाका चिन्तन न करे । सदैव प्रसन्न रहे । सावधानीके साथ कर्तव्य-पालन करते हुए सबके हितके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये सबकी सेवा करे । किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रक्खे ।

(२)

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । मेरा शरीर अस्वस्थ ही चल रहा है । आपका पत्र बहुत विस्तारयुक्त है। इस कारण उत्तरमें समय अधिक लग जाता है । आपकी भतीजी करीब दो सालकी थी; उसका देहान्त हो गया लिखा, सो शरीर अनित्य है, इसका नाश होना अनिवार्य है । उसकी क्या गति हुई, यह मैं नहीं जानता; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ । उसके मोहसे चिन्ता करना सर्वथा भूल है । इसमें किसीका कुछ भी लाभ नहीं है । उसके माता-पिताको भी समझाकर धैर्य और सान्त्वना देनी चाहिये । एक शरीरको छोड़कर चले जाना ही मृत्यु है । जीव पहलेके शरीरका त्याग करके कर्म-फल-भोगके लिये दूसरे शरीरमें आता है और उसकी आयु समाप्त होनेपर उसे भी छोड़कर अन्यत्र कर्मानुसार चला जाता है । उस पूर्वशरीरसे फिर उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । स्वर्ग-नरक अपने-अपने स्थानमें हैं, पृथ्वीमें नहीं हैं । जीव अपने कर्मोंका फल ही सुख-दुःखके रूपमें भोगता है । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

१–अबोध शिशु, पशु-पक्षीको अन्तकालके समय भगवान्‌का नाम और गीता आदिका पाठ सुनाना अच्छा है । सुनानेवालेका और अन्य सुननेवालोंका भी हित है तथा मरनेवालेका भी हित है; पर इससे उसकी मुक्ति हो जाती है, यह युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि मुक्तिका सम्बन्ध मरनेवालेके भावसे है । यही बात तस्वीर और मूर्ति आदिके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये ।

मुक्ति, मोक्षप्राप्ति, परमपद, ईश्वरप्राप्ति आदिमें कोई अन्तर नहीं है । सब एक ही बात है । उसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता । भगवान्‌के नाम-जप और गुण-कीर्तनको भी भजन कहते हैं । पर जपकी अपेक्षा स्मरणका दर्जा ऊँचा है । स्मरण मनसे होता है, जप वाणीसे भी होता है । कीर्तन भी एक प्रकारका जप ही है । चिन्तनमें स्थिरता होती है । उसीको ध्यान भी कहते हैं । स्मरण-चिन्तनमें अनन्यता होनेसे उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति या मुक्ति हो सकता है । (गीता अध्याय ९ श्लोक २२ देखें)

२–प्राण तो वायु है । जीव, जीवात्मा और आत्मा चेतन जीवको ही कहते हैं, जो शरीरमें ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है । परमात्मा परमेश्वरको कहते हैं, वह सर्वव्यापी और एक है । वह सबका स्वामी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है । जीव अल्पज्ञ है । यमराज और धर्मराज एक ही देवताके नाम हैं । अन्तरिक्ष आकाशको कहते हैं । उसीमें पक्षी उड़ते हैं ।

३–देवता इन्द्र आदि अनेक हैं । पितरलोग पितृलोकमें रहते हैं । भूत-प्रेत और वेताल आदि तामसी योनियाँ हैं । ये योनियाँ मनुष्यसे नीचे दर्जेकी हैं । ईश्वर सबका स्वामी है।

…हैं सबका स्वरूप और शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। भूत-प्रेत होना मनुष्यके बुरे भाव और आचरणोंका फल है। किस कर्मके फलमें कौन-सी योनि मिलती है, इसका विवरण चिट्ठीमें नहीं समझाया जा सकता। कर्मफल शेष होनेपर उस योनिसे छुटकारा हो जाता है। काम-क्रोध आदिके संचित जो संस्कार हैं, वे ही पाप करवाते हैं। सब शरीरोंमें जीवात्मा भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है; परमात्मा एक है, वह सर्वव्यापी है। जीवात्मा जब शरीरको त्यागकर इन्द्रियाँ, अन्तः-करण और प्राणोंके सहित निकल जाता है, तब वह शरीर मर जाता है। (गी० अ० १५ श्लोक ८ देखिये)

४–वाल्मीकिजीने रामायण रामावतारके पहले लिखी थी, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि रामावतार हरेक त्रेतायुगमें होता है। श्रीरामचन्द्रजीका जो अन्तिम अवतार हुआ था, उसके पहले शायद वाल्मीकिजीने रामायण लिखी होगी।

५–मरनेके बाद सूक्ष्मशरीरका कोई आकार नहीं रहता। कर्मफल भोगनेके लिये जीव जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ जैसे शरीरकी जरूरत होती है, वैसा उसे मिल जाता है। सूक्ष्म-शरीर इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये दिखायी नहीं देता। आत्मा तो इन्द्रियोंका विषय है ही नहीं।

६–जो कर्मफलका भोक्ता है, वही ज्ञाता है। वह कहाँसे आया है, इसका किसीको पता नहीं है। इसका आना कर्मोंका फल भोगनेके लिये है। इसका जाना भी कर्मानुसार ही होता है। ईश्वर और जीवका अन्तर पहले बता दिया गया। मनुष्यका शरीर परमात्माको प्राप्त करनेका साधन करनेके लिये मिलता है, पर वह अपना अमूल्य समय भोगोंके भोगनेमें खो देता है। यह भूल नहीं करनी चाहिये। निरन्तर भजन-स्मरण ही करना चाहिये। यही जीवनका परम कर्तव्य है, यही सब प्रकारकी कठिनाइयोंसे पार होनेका उपाय है।

७–अपने कर्तव्यका पालन करना ही धर्म है। उसके विपरीत दूसरोंका अहित करना अधर्म या पाप है। धर्मसे सुख और पापसे दुःख मिलता है। पूजा-पाठ, ईश्वर-चिन्तन तथा परमार्थ-साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। मूर्तिपूजा, आरती, उनकी स्तुति आदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये की जाती हैं।

८–अपने परिवार, जाति, देश, समाज आदिके प्रति स्वार्थत्यागपूर्वक सबका हित करना, सबकी सेवा करना कर्तव्य है। मुक्ति निष्कामभावसे मिलती है। नहीं तो संसारमें कीर्ति होती है। वीरगति मुक्ति नहीं है। स्वर्गप्राप्ति कह सकते हैं। सभी वर्णोंको मिल सकती है। मुक्तिके सिवा हरेक गतिके बाद पुनर्जन्म होता है। मनुष्य-जन्म, धन, विद्या, बल, पद आदिकी सार्थकता उनके सदुपयोगमें है। अभिमानसे और स्वार्थसे हानि है। समस्त देशमें मृत शरीरकी भस्म छिड़कानेमें मेरी समझमें कोई लाभ नहीं है। पं०नेहरूजीका क्या आशय था, यह वे ही जानें। मुझे पता नहीं है। उनकी मुक्तिके विषयमें मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है।

९–सब धर्मोंका उद्देश्य तो परम आनन्दकी प्राप्ति ही होना चाहिये; पर प्रकृतिके भेदसे मनुष्योंकी मान्यता और मत-मतान्तरसे नाना प्रकारके भेद हो गये हैं। इसी कारण स्वार्थवश आचरण एक दूसरेके विपरीत हो गये हैं। गीताके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का विस्तृत भाव गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें पढ़ना चाहिये। सभी वर्णोंके लोग ईश्वरभक्तिको अपनाकर उसकी पूजा अपने-अपने कर्मोंद्वारा करते हुए ईश्वर-प्राप्ति कर सकते हैं (गीता अ० १८। ४५-४६ देखें)। गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंको सभी पढ़ सकते हैं और उनमें बताये हुए मार्गका अवलम्बन कर सकते हैं। इसमें कोई हानि नहीं है। कर्म-अकर्म, ज्ञान-अज्ञान तथा शुभ-अशुभका तत्त्व 'गीतातत्त्वविवेचनी' टीकामें देखना चाहिये। चिट्ठीमें अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता।

१०–किसी जीवित या मृतक प्राणीके लिये मनुष्य अपने किये हुए धार्मिक शुभ कर्मोंका फल समर्पण कर सकता है। इससे कर्ताको त्यागका फल मिलता है, न कि उन कर्मोंका। इसमें दोनोंका हित अवश्य होता है, जैसे सेवा करनेसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। किसी जीवके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंका फल उसे भगवान्के विधानसे उसी प्रकार मिलता है, जैसे मनुष्यको अपने किये कर्मोंका फल मिलता है। भोजन आदि पितर आदिके लिये निकालनेसे तृप्ति विधानके अनुसार होती है।

अपने कर्मोंको भगवान्के समर्पण कर देनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है (गी० अ० ९। २७-२८ देखें)। अशुभ कर्म भगवान्की आज्ञाके विपरीत हैं, उनको तो करना ही नहीं चाहिये। अशुभ कर्म समर्पण नहीं किये जा सकते।

११–ज्योतिषियोंकी सब बातें सत्य नहीं होतीं; क्योंकि वे वास्तवमें जानते नहीं, अनुमान करते हैं।

१२–मनुष्य परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, परंतु अन्यान्य चाहोंको नहीं छोड़ता तथा यथाशक्ति प्रयत्न भी नहीं करता। दर्शन न होनेका कारण श्रद्धा-विश्वासकी तथा प्रेम और आवश्यकताकी कमी ही है। भगवान्‌की प्राप्ति श्रद्धा-प्रेमपूर्वक तीव्र चाह होनेपर सभी वर्ण-आश्रमोंमें हो सकती है। भगवान्‌की कृपासे सब विघ्न-बाधाओंका नाश हो जाता है। इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये गीता, ईशादि नौ उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन देख सकते हैं। भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण गी० अ० १२ श्लोक १३ से १९ तक तथा अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक देख लें।

१३–अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अज्ञानका नाश होनेसे आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे मनुष्य उसके विकारोंका आरोप भ्रमसे आत्मामें कर लेता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा अन्तःकरण दोषोंसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, उनमें साधन नहीं हो सकता।

१४–परमार्थ-साधनमें निष्कामभावकी, वैराग्यकी और भगवान्‌के स्मरणकी ही विशेषता है। इन्हींसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। विषय-भोगकी कामना ही साधनमें बाधक है। साधनमें नींद आनेका कारण श्रद्धा-प्रेमकी कमी है, उसका सुधार विश्वाससे और प्रभु-शरणागतिसे हो सकता है। वैराग्य ही आत्मसंयमका सरल उपाय है।

१५–गर्भमें जीव स्थूलशरीरके साथ रहता है, मरनेके बाद सूक्ष्म शरीरके साथ रहता है। इन दोनों अवस्थाओंमें वह सर्वथा शरीर-रहित नहीं होता। श्रीगीताजीमें जो उपदेश है, वह भगवान् श्रीकृष्णका ही दिया हुआ है। अर्जुन, धृतराष्ट्र, संजय तथा व्यासजी तो निमित्तमात्र हैं। यह बात सत्य है कि इसकी श्लोकोंमें रचना व्यासजीने ही की है। जो उपदेश भगवान्‌ने दिया है, वही भगवान्‌की वाणी है।

१६–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जितने भी विकार और दुर्गुण हैं, इन सबका कारण विषय-आसक्ति है और उसका कारण अज्ञान है। इन सबका नाश करनेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक दिया है; परंतु मनुष्य उसके अनुसार नहीं चलता। इसी कारण उसे अपनेमें असमर्थता प्रतीत होती है। इसके नाशका उपाय विवेकके अनुसार चलना और भगवान्‌के शरण होना है।

१७–यदि कोई नास्तिकताकी बात करे तो बिना राग-द्वेषके उपराम हो जाना चाहिये—न तो उसे बुरा समझना चाहिये, न क्रोध करना चाहिये और न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये तथा अपनेमें आस्तिकताका अभिमान भी नहीं करना चाहिये। शान्त और सर्वथा निर्विकार रहना चाहिये।

१८–ईश्वर तथा देवी-देवताओंकी तस्वीरें मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार बनाता है, उनका वास्तविक स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं होता। उनका स्वरूप दिव्य है। चित्र और मूर्तियाँ तो उनकी स्मृतिके लिये निमित्तमात्र हैं। प्रधानता भावकी है। भगवान्‌के किसी भी नाम-रूपकी उपासना भगवान्‌की उपासना है। उससे सभी देवी-देवता प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि सब उन्हींके अंश हैं।

१९–पशु-पक्षियोंका शरीरमें अभिमान रहता है, इस कारण मरण-भय स्वाभाविक है। विवेक नहीं है, इस कारण वे भोगासक्त होकर दूसरोंकी हिंसामें प्रवृत्त हो जाते हैं। शिशुका विवेक जाग्रत् नहीं है; पर मनुष्य अपने विवेकके अनुसार आचरण न करके न करने योग्य कर्म करता है, इसलिये वह पापका भागी होता है। कर्तापनके अभिमानको लेकर किये जानेवाले कर्म ही नये कर्म हैं। उनका फल कर्त्ताको अवश्य मिलता है।

२०–साधकको सबके साथ अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये। किसीके साथ सद्भावपूर्वक किया हुआ उत्तम व्यवहार उच्छृङ्खलता या अनिष्ट करनेकी भावनाको बढ़ानेवाला नहीं होता, बल्कि उसके स्वभावको सुधारनेमें हेतु होता है। परस्पर बुरा करनेकी भावनासे राग-द्वेष बढ़ते हैं, उनकी कमी नहीं होती। सेरको सवासेर मिलने आदि कहावतें बेसमझोंकी कही हुई हैं, सब ऐसा नहीं करते। अकारण कोई दुष्टता नहीं करता, उसमें साधकको अपनी गलतीकी खोज करके उसका सुधार करना चाहिये और प्रतिपक्षीके प्रति बुरा भाव नहीं करना चाहिये। अपनेमें अच्छाईका अभिमान करके उसको बुरा नहीं समझना चाहिये। किसीके साथ बुराई करनेवाला पहले स्वयं अपना अहित करता है; क्योंकि स्वयं बुरा बनकर ही मनुष्य बुराई कर सकता है। अतः वह दयाका पात्र है, न कि क्रोध या द्वेषका। बदला न लेनेवालेकी कभी बेइज्जती नहीं होती।

हृदयमें जलन रहनेका कारण द्वेष है, न कि बदला न लेना। प्रतिशोधकी भावनासे मन अपवित्र होता है। इस भावनाका त्याग करनेसे शान्ति मिलती है। खटमल, मच्छर, मक्खियाँ तथा साँप आदिसे सावधान रहना चाहिये, ताकि वे शरीरकी हानि न कर सकें। इतनेपर भी उनके द्वारा कोई हानि हो जाय तो उसे प्रारब्धका फल मानना चाहिये। उन क्षुद्र जीवों-पर न तो क्रोध करना चाहिये और न उनका अहित ही करना चाहिये। साँपको भी मारनेसे पाप ही होता है। जो सुना जाता है, वह ठीक नहीं है। कर्म-फल-भोग पूरा होनेसे ही योनिसे छुटकारा होता है।

२१–तड़प-तड़पकर शरीर त्यागनेवाले जीवकी सेवा करना उसको शान्ति देना ही कर्तव्य है, न कि मार डालना। किसीको भी मार डालना न्याय नहीं है। मुखसे श्वास लेनेवालेका मुख बंद करना या पैरके अँगूठेकी अँगुली बाँधना अनुचित है। ऐसा न करनेसे मरनेवालेकी भूत बननेकी कोई सम्भावना नहीं है।

२२–देवी-देवता किसीकी बलि लेना नहीं चाहते। लोग मूर्खता और स्वार्थवश बलिदान करते हैं। यह प्रथा लोगोंका भाव शुद्ध होनेपर ही रुक सकती है। सरकारको इनके बंद करनेकी आवश्यकताका ज्ञान नहीं है। हमें दूसरोंपर क्रोध न करके सद्भावपूर्वक उनके सुधारके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।

२३–किसीके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षी, मछली आदिको खरीदनेवाला तथा चोरीकी वस्तुको खरीदनेवाला भी पापी होता है। मारी हुई गौके चमड़ेका जूता पहनना पाप है। स्वयं मरी हुई गौके चमड़ेका जूता पहनना पाप नहीं है। पर इसका निर्णय कठिन है। इसलिये चमड़ेका त्याग ही अच्छा है।

२४–निराकार-साकार और निर्गुण-सगुण परमात्मा भिन्न नहीं हैं। एक ही परमात्माके अनेक रूप हैं। सदा जिस किसीकी उपासना करे, वही अच्छा है। सद्गुरुका निर्णय करना बड़ा कठिन है। अतः परमात्माको ही अपना परम गुरु मानकर उसके दिये हुए विवेकके अनुसार साधन करके अपने जीवनका सुधार करना चाहिये। मेरा न तो गुरु बननेका अधिकार है और न मेरी सामर्थ्य ही है तथा न मैं किसीका गुरु बनता ही हूँ।

२५–भगवान्के श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी प्राप्ति उनकी कृपासे होती है, अतः भगवान्के सामने एकान्तमें करुणा-भावपूर्वक उनके शरण होकर स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये तथा उनकी प्राप्तिकी उत्कट और अनन्य लालसा रखनी चाहिये। इसमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, आन्तरिक भावकी है। साधन छोड़ना नहीं है, भावकी जागृति करनी है। कल्कि अवतार सम्भवतः कलियुगके अन्तमें हो सकता है। कब और कहाँ होगा, पता नहीं है। उसका स्वरूप ज्ञात नहीं है।

२६–मनुष्यका शरीर नरक नहीं है, साधनधाम है। बाहरी शुद्धि तथा अन्तःकरणकी शुद्धि दोनों ही साधनके अङ्ग हैं। इनका अभिमान हानिकारक है। दूसरोंमें घृणा करना भी हानिकारक है। भाग्यमें कर्मफलका भोग लिखा जाता है, नया कर्म पहलेसे निश्चित नहीं होता। उसके करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र भी है। इसीलिये उसे पापका फल भोगना पड़ता है।

२७–क, ख, ग, घ, ङ, च—में जो पद लिखे, उनका शब्दार्थ तो स्पष्ट है। ढाई अक्षर प्रेमके हैं। भगवान्के नामका प्रेमपूर्वक स्मरण करना। पत्थरको पूजनेसे भगवान् नहीं मिलते, मूर्तिको प्रतीक मानकर भगवान्में प्रेम करनेसे भगवान् मिलते हैं, मूर्ति तो निमित्तमात्र है। अपने साथ बुरा व्यवहार करनेवालेका भी हित ही करना चाहिये, यही काँटेके बदलेमें फूल बोना है। सब भोग और मान-प्रतिष्ठा आदिको मिथ्या समझकर सबसे असङ्ग होकर भगवान्में मन लगाना चाहिये। भोगोंके भोगनेमें जन्म व्यतीत करना महान् भूल है। शरीर-निर्वाहकी चिन्ता व्यर्थ है, प्रभु सबका पालन-पोषण करनेवाला है। यही इन सब दोहोंका भाव है।

साधकको अपने जीवनका पूरा समय यथार्थ साधनमें ही लगाना चाहिये। हरेक कर्तव्यकर्म भगवान्के आज्ञानुसार निष्काम भावसे करके उसे साधन बना लेना चाहिये। सब झंझट तभीतक है, जबतक साधक भगवान्का नहीं हो जाता और अपनेमें बल-बुद्धिका अभिमान रखता है। शिक्षाप्रद पुस्तकोंके पढ़नेको छोड़ना नहीं है, पर केवल पाठ ही नहीं करना है, उसके उपदेशानुसार अपना सुधार करना चाहिये। मूर्तिपूजाको निमित्तमात्र समझकर जिसकी वह मूर्ति है, उसमें प्रेम करना चाहिये। अनेक साधनोंमें न

भटककर प्रभुका आश्रय लेना ही सरल साधन है। श्रद्धा-विश्वास और प्रेम होना चाहिये।

२८—भुखमरी, पराधीनता, लाचारी आदिका दुःख मनुष्योंकी अपनी भूलका परिणाम है। सद्भावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन ही इनसे छूटनेका उपाय है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, जब उचित समझेंगे अवतार लेंगे; २४ अवतारोंके नाम भागवतमें देख लेने चाहिये।

२९—दोनों दोहोंका आशय ठीक है। दुष्टके पास कोई गुण हो तो उसे ले लेना चाहिये, पर उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये। विद्याके लालचमें पड़कर नुकसान नहीं उठाना चाहिये। साँपमें जो मणि है, वह तो ले लेनेके लायक है; पर उसकी आशामें साँपका शिकार नहीं बनना है। सावधानीसे काम लेना है।

३०—दोनों दोहे ठीक हैं और सत्य हैं। कोई भी व्यर्थ नहीं है। कुसङ्गका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिये कुसङ्ग नहीं करना चाहिये; परंतु जो स्वयं कुसङ्ग नहीं करता, प्रसङ्गवश बुरा सङ्ग हो जानेपर भी उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं रखता, उसपर कुसङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता। चन्दनका वृक्ष सर्पोंका संग करनेके लिये नहीं जाता, न उनसे कुछ लेता ही है; इस कारण उसपर उनके विषका असर नहीं होता। संसारमें सब कुछ है, पर मनुष्यको उसके कर्मफलके अनुसार ही पदार्थ मिलते हैं—यह ठीक ही है।

३१—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिक-दर्शन, योगदर्शन और पूर्वमीमांसादर्शन—ये छः दर्शन-शास्त्र हैं। पुराण १८ हैं। इनके नाम शास्त्रोंमें लिखे हैं। इनके मिलनेके ठिकाने अलग-अलग हैं, इनमें जो कुछ विशेष उपयोगी पुस्तकें हैं, वे सब गीताप्रेस गोरखपुरमें और उसकी दूकानोंमें जगह-जगह मिलती हैं। श्रीमद्भगवद्गीतापर तत्त्व-विवेचनी टीका है। उसका दाम ४) रुपया है।

३२—ब्रह्माकी पूजा करनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं है। इस कारण उनके मन्दिर प्रायः नहीं बनते। इसमें खास कारण श्रद्धाका ही है। निराहार और आहारयुक्त व्रतादि अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार करना चाहिये। असली व्रत तो यम-नियमोंका पालन करना है। व्रतोंका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है। सूर्यकी तरफ मुख करके मल-त्याग और लघुशङ्का करनेसे तेज घटता है और सूर्यका अपमान होता है। सूर्य देवता हैं, उनका आदर-सत्कार करना मनुष्यका कर्तव्य है।

३३—बकरेको काटने आदि पापोंके फलका भोग फल-दाताके विधानके अनुसार समयपर मिलता है। उसी जीवके द्वारा ही परलोकमें बदला लिया जाय, यह कोई खास नियम नहीं है। जितना अधिक मनुष्य पाप करता है, उतना ही अधिक दण्ड पाप करनेवालेको अनेक जन्मोंमें भोगना पड़ता है।

३४—यदि आपका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है तो विवाह होनेके बाद १६ वर्षकी अवस्थाके बाद यज्ञोपवीत लेनेका अधिकार नहीं रहता; फिर भी कोई ले तो हम बुरी बात नहीं समझते। यज्ञोपवीत-संस्कारमें विशेष धन खर्च करना आवश्यक नहीं है। अकेले मनुष्यको भी संस्कार करानेका अधिकार है, कोई अड़चन नहीं। यज्ञोपवीत न होनेसे संध्या, गायत्री-जप तो नहीं करना चाहिये, पर भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌का स्मरण सभी कर सकते हैं। फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होना चाहिये। हरेक वर्ष स्वर्गाश्रम, गीताभवनमें बहुत-से बालकोंका यज्ञोपवीत-संस्कार प्रायः कराया जाता है। धनका खर्च बहुत मामूली है। गायत्री-मन्त्र अलग है। महामृत्युंजयका मन्त्र अलग है। दोनोंके जपके विधान अलग-अलग हैं। आपने मन्त्र लिखे सो ठीक है।

३५—संध्या और गायत्री-मन्त्रकी १ मालामें करीब आधा घंटासे कम ही लगता है। तीन घंटेका कोई काम नहीं है। सबेरे सूर्योदयसे पहले तथा सायंकाल सूर्यास्तसे पहले, तीसरी बार दोपहरमें १२ बजे—इस प्रकार तीन बार संध्या-गायत्रीका विधान है; पर सबेरे-सायंकाल दो बार तो अवश्य करना चाहिये। कुल एक घंटा प्रतिदिन लग सकता है। आप ९ घंटा कैसे समझते हैं, विचार करें।

३६—आपके मनमें जो घर छोड़कर एकान्तमें जानेके भाव उठते हैं, यह मनका धोखा है। साधनमें प्रेम होनेसे वह हरेक जगह हो सकता है। उसके बिना हरेक जगह विघ्न सामने आ सकते हैं। भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखना चाहिये। भजन-ध्यान करनेमें शर्म नहीं आनी चाहिये, शर्म तो

...रे काम करनेमें आनी चाहिये । शादी-विवाह आदिमें, ...ादमें समय नहीं खोना चाहिये । मित्र-सम्बन्धी आ जायँ ...ो उनका आदर-सत्कार कर्तव्य समझकर करना चाहिये । व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिये । उनको मना करनेकी कोई जरूरत नहीं है ।

३७–पूर्णरूपसे सावधान रहते हुए जो चलते-फिरते और कर्तव्य-कर्म करते समय चींटी आदि सूक्ष्म जीवोंकी मृत्यु हो जाती है, वह उन जीवोंका प्रारब्ध-भोग है; अतः उनका पाप नहीं लगता । करने योग्य कर्मोंका त्याग भूल है । मृत्युकी इच्छा करना भी भूल है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही भगवान्की प्राप्तिका साधन बन सकता है, अन्य योनिमें नहीं । भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि अत्यन्त दुराचारी पापीका भी मेरी भक्तिसे सुधार और उद्धार हो सकता है । (गी० अ० ९ श्लोक ३०-३१ देखें)

३८–अपने आपपर या दूसरे जीवोंपर क्रोध करना भूल है । नालीके गंदे पानीमें तथा अन्य अवस्थामें जो क्षुद्र ...ीवोंकी मृत्यु होती है और उनको कष्ट होता है, यह उनके प्रारब्धका भोग है । इसे देखकर चिन्ता-शोक या क्रोध नहीं करना चाहिये । उन जीवोंको नालीसे बाहर निकालकर भी आप सुखी नहीं कर सकते । लोगोंके हँसी-मजाक करनेकी परवा करके साधनमें ढिलाई नहीं आने देनी चाहिये तथा साधनके बदलेमें सम्मानकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये । अपने मनकी हरेक बात किसीके सामने गुणरूपमें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये । साधनको गुप्त रखना ही अच्छा है ।

३९–दुनियामें किसीको भी अपना नहीं समझना चाहिये; परंतु सबका हित करनेकी अवश्य चेष्टा रखनी चाहिये । जो कोई अपनी निन्दा करे, कठोर शब्द कहे, उनको न तो अपना दुश्मन समझना चाहिये न उनके प्रति द्वेष या घृणा ही करनी चाहिये; बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि मेरे प्रिय प्रभुकी प्रेरणासे मेरा अभिमान नाश करनेके लिये ही ये लोग ऐसा व्यवहार करते हैं, इनमें इनका कोई दोष नहीं है । हृदयमें जलन रहना भूल है । इससे सम्मानकी और इज्जतकी कामना स्पष्ट ही दिखायी देती है ।

४०–आपसमें एकता सभीको रखनी चाहिये । लोग न रक्खें तो भी आपको सबसे प्रेम रखना चाहिये ।

४१–दूसरोंको वे ही पुस्तक पढ़नेके लिये देनी चाहिये, जिनके वापस न आनेसे दुःख न हो । परिणाममें क्रोधसे या किसीसे कड़ा व्यवहार करना पड़े, उसमें लाभ नहीं है ।

४२–सब ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकते, फिर इस प्रकारकी कल्पना ही क्यों करनी चाहिये । दूसरोंके दोषोंको नहीं देखना चाहिये । हर समय प्रभुके स्मरणमें मस्त रहना चाहिये ।

रस-समुद्रका प्रवाह

बहुत दूर तुम, बहुत पास तुम, दूर-पास दोनोंसे दूर ।
तुममें नित्य बसी मैं, मुझमें तुम सब ओर, सदा भरपूर ॥
एक पृथक्‌का प्रश्न बने तब, जब हो कभी भिन्न अस्तित्व ।
एक रहस्यपूर्ण रसमय है नित्य अभिन्न सत्त्व-चित्तत्व ॥
तब भी अनुभव करते दोनों, दोनोंका संयोग-वियोग ।
मिलन परम अचिन्त्य सुख देता, अमिलन परम दुःख-संयोग ॥
बढ़ती पल-पल मिलनाकाङ्क्षा, जाती नित अनन्तकी ओर ।
रस-समुद्र शुचि बहने लगता, सहज छोड़ मर्यादा-छोर ॥

भटककर प्रभुका आश्रय लेना ही सरल साधन है। श्रद्धा-विश्वास और प्रेम होना चाहिये।

२८–भुखमरी, पराधीनता, लाचारी आदिका दुःख मनुष्योंकी अपनी भूलका परिणाम है। सद्भावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन ही इनसे छूटनेका उपाय है। भगवान् सर्वज्ञ हैं; जब उचित समझेंगे अवतार लेंगे; २४ अवतारोंके नाम भागवतमें देख लेने चाहिये।

२९–दोनों दोहोंका आशय ठीक है। दुष्टके पास कोई गुण हो तो उसे ले लेना चाहिये, पर उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये। विद्याके लालचमें पड़कर नुकसान नहीं उठाना चाहिये। साँपमें जो मणि है, वह तो ले लेनेके लायक है; पर उसकी आशामें साँपका शिकार नहीं बनना है। सावधानीसे काम लेना है।

३०–दोनों दोहे ठीक हैं और सत्य हैं। कोई भी व्यर्थ नहीं है। कुसङ्गका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिये कुसङ्ग नहीं करना चाहिये; परंतु जो स्वयं कुसङ्ग नहीं करता, प्रसङ्गवश बुरा सङ्ग हो जानेपर भी उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं रखता, उसपर कुसङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता। चन्दनका वृक्ष सर्पोंका संग करनेके लिये नहीं जाता, न उनसे कुछ लेता ही है; इस कारण उसपर उनके विषका असर नहीं होता। संसारमें सब कुछ है; पर मनुष्यको उसके कर्मफलके अनुसार ही पदार्थ मिलते हैं—यह ठीक ही है।

३१–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिक-दर्शन, योगदर्शन और पूर्वमीमांसादर्शन—ये छः दर्शन-शास्त्र हैं। पुराण १८ हैं। इनके नाम शास्त्रोंमें लिखे हैं। इनके मिलनेके ठिकाने अलग-अलग हैं, इनमें जो कुछ विशेष उपयोगी पुस्तकें हैं, वे सब गीताप्रेस गोरखपुरमें और उसकी दूकानोंमें जगह-जगह मिलती हैं। श्रीमद्भगवद्गीतापर तत्त्व-विवेचनी टीका है। उसका दाम ४) रुपया है।

३२–ब्रह्माकी पूजा करनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं है। इस कारण उनके मन्दिर प्रायः नहीं बनते। इसमें खास कारण श्रद्धाका ही है। निराहार और आहारयुक्त व्रतादि अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार करना चाहिये। असली व्रत तो यम-नियमोंका पालन करना है। व्रतोंका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है। सूर्यकी तरफ मुख करके मल-त्याग और लघुशङ्का करनेसे तेज घटता है और सूर्यका अपमान होता है। सूर्य देवता हैं, उनका आदर-सत्कार करना मनुष्यका कर्तव्य है।

३३–बकरेको काटने आदि पापोंके फलका भोग फल-दाताके विधानके अनुसार समयपर मिलता है। उसी जीवके द्वारा ही परलोकमें बदला लिया जाय, यह कोई खास नियम नहीं है। जितना अधिक मनुष्य पाप करता है, उतना ही अधिक दण्ड पाप करनेवालेको अनेक जन्मोंमें भोगना पड़ता है।

३४–यदि आपका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है तो विवाह होनेके बाद १६ वर्षकी अवस्थाके बाद यज्ञोपवीत लेनेका अधिकार नहीं रहता; फिर भी कोई ले तो हम बुरी बात नहीं समझते। यज्ञोपवीत-संस्कारमें विशेष धन खर्च करना आवश्यक नहीं है। अकेले मनुष्यको भी संस्कार करानेका अधिकार है, कोई अड़चन नहीं। यज्ञोपवीत न होनेसे संध्या, गायत्री-जप तो नहीं करना चाहिये, पर भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌का स्मरण सभी कर सकते हैं। फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होना चाहिये। हरेक वर्ष स्वर्गाश्रम, गीताभवनमें बहुत-से बालकोंका यज्ञोपवीत-संस्कार प्रायः कराया जाता है। धनका खर्च बहुत मामूली है। गायत्री-मन्त्र अलग है। महामृत्युंजयका मन्त्र अलग है। दोनोंके जपके विधान अलग-अलग हैं। आपने मन्त्र लिखे सो ठीक है।

३५–संध्या और गायत्री-मन्त्रकी १ मालामें करीब आधा घंटासे कम ही लगता है। तीन घंटेका कोई काम नहीं है। सवेरे सूर्योदयसे पहले तथा सायंकाल सूर्यास्तसे पहले, तीसरी बार दोपहरमें १२ बजे—इस प्रकार तीन बार संध्या-गायत्रीका विधान है; पर सवेरे-सायंकाल दो बार तो अवश्य करना चाहिये। कुल एक घंटा प्रतिदिन लग सकता है। आप ९ घंटा कैसे समझते हैं, विचार करें।

३६–आपके मनमें जो घर छोड़कर एकान्तमें जानेके भाव उठते हैं, यह मनका धोखा है। साधनमें प्रेम होनेसे वह हरेक जगह हो सकता है। उसके बिना हरेक जगह विघ्न सामने आ सकते हैं। भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखना चाहिये। भजन-ध्यान करनेमें शर्म नहीं आनी चाहिये; शर्म तो

...रे काम करनेमें आनी चाहिये । शादी-विवाह आदिमें, ...आदमें समय नहीं खोना चाहिये । मित्र-सम्बन्धी आ जायँ तो उनका आदर-सत्कार कर्तव्य समझकर करना चाहिये । व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिये । उनको मना करनेकी कोई जरूरत नहीं है ।

३७–पूर्णरूपसे सावधान रहते हुए जो चलते-फिरते और कर्तव्य-कर्म करते समय चींटी आदि सूक्ष्म जीवोंकी मृत्यु हो जाती है, वह उन जीवोंका प्रारब्ध-भोग है; अतः उनका पाप नहीं लगता । करने योग्य कर्मोंका त्याग भूल है । मृत्युकी इच्छा करना भी भूल है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही भगवान्की प्राप्तिका साधन बन सकता है, अन्य योनिमें नहीं । भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि अत्यन्त दुराचारी पापीका भी मेरी भक्तिसे सुधार और उद्धार हो सकता है । (गी० अ० ९ श्लोक ३०-३१ देखें)

३८–अपने आपपर या दूसरे जीवोंपर क्रोध करना भूल है । नालीके गंदे पानीमें तथा अन्य अवस्थामें जो क्षुद्र जीवोंकी मृत्यु होती है और उनको कष्ट होता है, यह उनके प्रारब्धका भोग है । इसे देखकर चिन्ता-शोक या क्रोध नहीं करना चाहिये । उन जीवोंको नालीसे बाहर निकालकर भी आप सुखी नहीं कर सकते । लोगोंके हँसी-मजाक करनेकी परवा करके साधनमें ढिलाई नहीं आने देनी चाहिये तथा साधनके बदलेमें सम्मानकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये । अपने मनकी हरेक बात किसीके सामने गुणरूपमें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये । साधनको गुप्त रखना ही अच्छा है ।

३९–दुनियामें किसीको भी अपना नहीं समझना चाहिये; परंतु सबका हित करनेकी अवश्य चेष्टा रखनी चाहिये । जो कोई अपनी निन्दा करे, कठोर शब्द कहे, उनको न तो अपना दुश्मन समझना चाहिये न उनके प्रति द्वेष या घृणा ही करनी चाहिये; बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि मेरे प्रिय प्रभुकी प्रेरणासे मेरा अभिमान नाश करनेके लिये ही ये लोग ऐसा व्यवहार करते हैं, इनमें इनका कोई दोष नहीं है । हृदयमें जलन रहना भूल है । इससे सम्मानकी और इज्जतकी कामना स्पष्ट ही दिखायी देती है ।

४०–आपसमें एकता सभीको रखनी चाहिये । लोग न रक्खें तो भी आपको सबसे प्रेम रखना चाहिये ।

४१–दूसरोंको वे ही पुस्तक पढ़नेके लिये देनी चाहिये, जिनके वापस न आनेसे दुःख न हो । परिणाममें क्रोधसे या किसीसे कड़ा व्यवहार करना पड़े, उसमें लाभ नहीं है ।

४२–सब ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकते; फिर इस प्रकारकी कल्पना ही क्यों करनी चाहिये । दूसरोंके दोषोंको नहीं देखना चाहिये । हर समय प्रभुके स्मरणमें मस्त रहना चाहिये ।

रस-समुद्रका प्रवाह

बहुत दूर तुम, बहुत पास तुम, दूर-पास दोनोंसे दूर ।
तुममें नित्य बसी मैं, मुझमें तुम सब ओर, सदा भरपूर ॥
एक पृथक्‌का प्रश्न बने तब, जब हो कभी भिन्न अस्तित्व ।
एक रहस्यपूर्ण रसमय है नित्य अभिन्न सत्त्व-चित्तत्त्व ॥
तब भी अनुभव करते दोनों, दोनोंका संयोग-वियोग ।
मिलन परम अचिन्त्य सुख देता, अमिलन परम दुःख-संयोग ॥
बढ़ती पल-पल मिलनाकाङ्क्षा, जाती नित अनन्तकी ओर ।
रस-समुद्र शुचि बहने लगता, सहज छोड़ मर्यादा-छोर ॥

अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव

[श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन]

मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः
करविनिहतकन्दुर्वल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणु-
र्वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥
उत्तरङ्गदङ्गरागसंगमातिपिङ्गल-
स्तुङ्गशृङ्गसङ्गिपाणिरङ्गनालिमङ्गलः ।
दिग्विलासिमल्लिहासिकीर्तिवल्लिपल्लव-
स्त्वां स पातु फुल्लचारुचिल्लिरद्य वल्लवः ॥

आज नित्य अजन्माके दिव्य जन्मका महामहोत्सव-दिवस है। समस्त प्रकृतिको धन्य करते हुए आज स्वयंरूप दिव्य नराकृति भगवान् प्रकट हुए हैं। भगवान्‌के अनेक विभिन्न अवतार होते हैं—पुरुषावतार, लीलावतार, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, आवेशावतार, कल्पावतार, कलावतार, अर्चावतार आदि। और भगवान् स्वरूपतः नित्य-सत्य-परिपूर्णतम होनेके कारण उनका प्रत्येक रूप ही नित्य, शाश्वत, सच्चिन्मय, हानोपादानरहित, परानन्दसंदोह और पूर्णतम है; तथापि लीलाकी दृष्टिसे शक्तिके प्रकाशके तारतम्यानुसार भेद दिखायी देता है।

पूर्तिः सार्वत्रिकी यद्यप्यविशेषा तथापि हि ।
तारतम्यं च तच्छक्तेर्व्यक्त्यव्यक्तिकृतं भवेत् ॥
(प्रमेयरत्नावलि १ । १४)

पर जब भगवान् स्वयं अपने पूर्णरूपमें प्रकट होते हैं, तब वे सर्वावतारमय होते हैं। स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिकल्पमें स्वयंरूपमें प्रकट होते हैं और वे प्रकट होते हैं मधुर मनोहर नर-वपुरूपमें। इसीसे भगवान्‌के सर्वभूतमहेश्वर सर्वरूपके तत्त्वको न जाननेवाले मूढलोग भगवान्‌के इस मानुषरूपको देखकर उनको पाञ्चभौतिक-देहविशिष्ट मनुष्य मान लेते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

वास्तवमें स्वयं-भगवान्‌की यह नराकृति नरलोकके नर-शरीरोंके आदर्शपर बनी हुई नहीं है, यह नित्य है। वस्तुतः भगवद्देहके आदर्शपर नर-शरीरका निर्माण है। भगवान्‌का शरीर दिव्य, अप्राकृत, देह-देहि-भेदसे रहित, जन्म-मृत्युसे रहित, सर्वकारणकारण, नित्यसिद्ध, निर्विकार, अनादि, सर्वादि, सच्चिदानन्दघनस्वरूप है। और नरलोकका नर-शरीर रक्त-मांसादिसे गठित, खण्डित, जन्म-मृत्युशील, पञ्चभूतनिर्मित, आत्मा (देही) और देहके भेदसे युक्त तथा विनाशी है। भगवद्-विग्रह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवत्स्वरूप है—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
(श्रीमद्भागवत)

उसका प्रारब्ध-परवश निर्माण, कर्मभोग तथा विनाश नहीं होता; वह नित्य, सत्य, सनातन तथा दिव्यकर्मा है। भगवत्स्वरूपा प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर अपनी ही स्वरूपभूता लीलारूप मायासे प्रकट और अप्रकट होता है।

तन्त्रशास्त्रमें कहा गया है—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा ॥

भगवान्‌का दिव्य शरीर मोह, तन्द्रा, भ्रम, रूक्षता, काम, क्रोध, असत्य, आकाङ्क्षा, आशङ्का, रोग, जरा, भय, विभ्रम, विषमता, परापेक्षा, परिवर्तनशीलता, अनित्यता, विनाश आदि दोषोंसे सर्वथा रहित तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्यविज्ञानानन्दरूपता, सर्वैश्वर्य, असमोर्ध्व माधुर्य आदि गुणोंसे परिपूर्ण है। वह काल-कर्मादिके अधीन नहीं है, पाञ्चभौतिक शरीरके जडत्व आदिसे रहित है; उसके हाथ, पैर, मुख, उदर आदि सभी एकमात्र दिव्य—चिन्मयानन्दरूप हैं। और

इसमें—वृक्षमें पत्र-पुष्प-फलादिकी भाँति स्वगत, दूसरे [illegible]लके वृक्षके रूपमें सजातीय तथा शिला आदिके रूपमें विजातीय भेद नहीं है; वह केवल भगवत्स्वरूप ही है।

भगवान्‌के अवतारके तीन हेतु माने गये हैं—'साधुओंका परित्राण', 'दुष्कृतकारियोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन'। स्वयं भगवान्‌के इस स्वयंरूपावतारमें अन्यान्य अवतारी रूपोंका समावेश होनेके कारण भगवान्‌के द्वारा पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका, अन्यान्य विविध रूपोंमें प्रकट असुरोंका तथा उनके अनुगामी आसुरभावापन्न दुष्कृतकारियोंका विनाश, इन सब क्रूरकर्मा दुराचारपरायण दुष्टप्रकृति-वालोंके द्वारा सताये हुए सदाचारी साधु-प्रकृति पुरुषोंका परित्राण और जघन्य पापप्रवृत्तिमय असुर मानवोंके द्वारा प्रचारित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन धर्मका भलीभाँति संस्थापन—ये तीनों मङ्गलमय महान् कार्य सुसम्पन्न होते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। अतएव जो लोग इन निमित्तोंसे भगवान्‌का अवतरित होना मानते हैं, वे ठीक ही मानते हैं।

परंतु स्वयं भगवान्‌का परिपूर्ण स्वयंरूपावतार युगावतारोंकी भाँति केवल धर्मग्लानि और अधर्मकी वृद्धि होनेपर साधुपरित्राण, दुष्ट-विनाश और धर्मसंस्थापनके लिये ही नहीं होता। वह तो उनके निज प्रेम-स्वरूप-वितरणके लिये—स्वरूपानन्द-आस्वादनरूप विनोदके लिये ही होता है। इसीसे श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि देवताओंने श्रीदेवकी-गर्भस्तुतिमें कहा है—

> न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
> विना विनोदं बत तर्कयामहे।
> भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
> कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥
> (१०।२।३९)

इसका भावार्थ यह है कि 'हे ईश! सर्वनियन्ता! आप अजन्मा हैं। आपके इस दिव्य जन्मका हेतु विनोद (स्वरूपानन्दास्वादन) के सिवा अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। (जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, लय आदि आपके इस आविर्भावमें हेतु नहीं हैं;) क्योंकि आप सर्वाश्रय हैं। आपकी आश्रिता मायाशक्तिके द्वारा ही ब्रह्मा-रुद्र आदि आपके गुणावतार इन कार्योंको सम्पन्न करते रहते हैं। आप अभय हैं। आपके नाम-कीर्तन-स्मरणाभाससे ही कंस आदि असुरोंके भयसे पूर्णतया रक्षा हो सकती है। इन असुरोंका वध करके धर्मसंस्थापन करनेके लिये आपके स्वयं आविर्भूत होनेकी आवश्यकता नहीं है।'

अतएव इस दृष्टिसे उपर्युक्त 'साधुपरित्राण', 'दुष्कर्मियोंके विनाश' और 'धर्मसंस्थापन'का एक दूसरा रूप होता है और उसीके लिये स्वयं-भगवान्‌का अवतरित होना प्रेमी भक्तगण मानते हैं—'स्वयं-भगवान् अपने इस अखिल रसामृतमूर्ति, अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर-विरुद्ध गुण-धर्माश्रयस्वरूप, घनीभूत परम प्रेमानन्द-सुधामय मधुर मनोहर दिव्यातिदिव्य चिन्मय नित्य लीला-विग्रहका दर्शन-दान करके उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो अपने परम प्रियतम भगवान्‌के नित्य मङ्गलमय, दिव्य प्रेमरसमय और परमानन्दरसमय दर्शनकी तीव्रतम उत्कण्ठासे अतुलनीय विरह-वेदनाका अनुभव कर रहे हैं और अपने जीवनके एक-एक पलको भीषण विरहानलकी भयानक ज्वालासे दग्ध होते बिता रहे हैं। यही उनका साधु-परित्राण है।

इसी प्रकार स्वयं-भगवान् उन दुष्कृतकारियोंके, उन परम सौभाग्यशाली असुरोंके देहका वियोग करके उन्हें सहज ही अपने ऋषि-मुनि-योगि-दुर्लभ दिव्य परम कल्याण-रूप परमधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्‌के ही मङ्गलमय दिव्य करकमलोंद्वारा देहत्याग करके भगवान्‌के दिव्यधाममें पहुँचनेके अधिकारी बन चुके हैं। भगवान्‌के स्वहस्तसे निहत होकर वे सदाके लिये पृथ्वीका परित्याग

करके भगवद्धाममें चले जाते हैं, अतएव वस्तुतः इसीसे पृथ्वीका भार-हरण होता है। भगवान्‌का यह 'निग्रह' भी 'परम अनुग्रह'-रूप होता है। इसमें भगवान् उन असुरोंका वध नहीं करते, परंतु स्व-स्वरूप-दान करके उन्हें कृतार्थ करते हैं। यही दुष्कर्मियोंका विनाश है।

एवं धर्म-संस्थापनका अभिप्राय यह है कि भगवान् उस काम-कलुषित मोहविजृम्भित विषयसेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानका ध्वंस करके भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज सर्वत्यागसे सुसम्पन्न, परम उत्कृष्ट, असमोर्ध्व मधुर विशुद्ध गुणातीत प्रेमधर्मकी स्थापना करते हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ऐश्वर्यस्वरूप हैं। वे सर्वरसमय हैं। उन पूर्णैश्वर्यमय भगवान्‌में जो माधुर्य है, वह पूर्णैश्वर्यमय स्वरूपमें ही भगवत्स्वरूप मधुरताकी नित्य अभिव्यक्ति है। ऐश्वर्यरहित मधुरता वास्तविक माधुर्य नहीं है। वह तो आपातमधुर विष-सदृश है (अग्रेऽमृतोपमं परिणामे विषमिव।) नराकृति सच्चित्-माधुर्यरूप भगवान्‌में और विषयगत मिथ्या-माधुर्य-युक्त मनुष्यमें सभी कुछ भिन्न है। भगवान्‌का माधुर्य सत्य, अप्राकृत, चिदानन्दघन है और मनुष्यका माधुर्य मिथ्या, प्राकृत—जड और विनाशमय है।

भगवान्‌के माधुर्यका अर्थ है—नित्य पूर्ण ऐश्वर्यमय भगवान्‌का गूढतम नर-विग्रह और उनकी दिव्यानन्दमयी नरलीला। इस लीलामें अशेष सौन्दर्य, लालित्य, चारुता, मधुरता और वैदग्ध्यादि गुणोंका वह अतुलनीय विलक्षण समूह होता है, जो चराचर समस्त जगत्—चतुर्दश-भुवनके साथ ही स्वयं सर्वाकर्षक भगवान् श्रीकृष्णके चित्तको भी आकर्षित करता है। उन नराकृति परब्रह्मके नर-विग्रहके असमोर्ध्व सौन्दर्य, माधुर्य, वैचित्र्य और वैदग्ध्यादि गुणोंका वर्णन करते हुए उसमें चार प्रकारकी विशेष माधुरीका नित्य वर्तमान रहना बतलाया है। वे हैं—रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी, प्रेममाधुरी और लीलामाधुरी। यही माधुर्य-चतुष्टय श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी विशेषता है।

स्वयं लीला-विस्तार करके इस माधुर्य-स्वरूपका विस्तार करना ही प्रेमी भक्तोंके मनमें श्रीकृष्णके आविर्भावका एकमात्र मुख्य कारण है। इस लीलामें भगवान् गोपवेश, वेणुकर, नवकिशोर नटवर रूपमें लीलायमान रहते हैं। यही मधुरलीला-तत्त्व है। भगवान्‌के स्वयंरूप अवतारमें इसकी प्रधानता होनेके कारण ही वे कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय चतुर्भुज देवरूपमें प्रकट होकर तुरंत ही द्विभुज बालरूपमें बदल गये और वसुदेवको प्रेरित करके मधुर लीलानन्दका रसास्वादन करने-कराने मधुर व्रजमें पधार गये।

श्रीकृष्णमाधुर्यके पूर्णतम प्रकाशका क्षेत्र एकमात्र व्रज ही है। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिपा रहता है। कहीं प्रकट होता है तो माधुर्यकी सेवाके लिये ही। व्रजमें ही विशुद्ध ममतायुक्त किंतु स्वसुखवाञ्छा-विहीन प्रेम-माधुर्यकी सरिता बहती है। भगवान्‌के तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म निश्चय ही आनन्दस्वरूप है। परब्रह्ममें शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मामें चिच्छक्तिका आंशिक विकास है, अतएव ह्लादिनी शक्तिका भी अस्तित्व अभिव्यक्त है; पर वह बहुत सूक्ष्म परिमाणमें ही है। ऐश्वर्य-प्रधान भगवान्‌में शान्त भक्तको माधुर्यकी कुछ अनुभूति होती है, पर वह भगवदैश्वर्यज्ञानको छिपा नहीं सकती। व्रजके गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्ण माधुर्यका प्रकाश है। इसीसे यहाँ पूर्णतम माधुर्यास्वादनमें ऐश्वर्यादिका अनुभव सम्पूर्णरूपसे तिरोहित रहता है। यही विशुद्ध प्रेम है।

श्रुतिमें कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

भगवत्-स्वरूपतत्त्व नित्य, एक और परिपूर्णतम है।

उसमें जीव तथा जड पदार्थोंकी भाँति न खण्डता है न अपूर्णता है, न परस्पर पृथक्ता या प्रतियोगिता ही है। तथापि अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण माधुर्यके प्रकाशकी विशेषताके कारण व्रजमें पूर्णतम रसिकशेखर हैं।

> शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
> शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, तेज आदि गुणोंको शक्ति कहते हैं। शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही तारतम्यमें कारण है।'

इस व्रजधाममें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार माधुर्यके अनुभवमें भी तारतम्य रहता है। दास्यरसके प्रेमकी अपेक्षा सख्यरसके प्रेममें, सख्यरसकी अपेक्षा वात्सल्यरसके प्रेममें और वात्सल्यरसकी अपेक्षा भी गोपाङ्गनाओंके माधुर्यानुभवमें उत्तरोत्तर विशेष उत्कर्ष है। गोपाङ्गनाओंमें भी महाभावस्वरूपा श्रीराधाका प्रेम तथा उनका माधुर्यानुभव सर्वापेक्षा अधिक और सर्वथा अतुलनीय है।

यहाँ भगवान् नित्यनवकिशोररूपसे श्रीगोपाङ्गनाओंके परममधुर दिव्यरसका आस्वादन करते हैं। श्रीगोपाङ्गनाओंका प्रेम सर्वथा निरुपाधिक, निरावरण और विशुद्ध है। उसमें ऐश्वर्यज्ञान, धर्माधर्मज्ञान, भावोत्पादनके लिये रूप-गुणादिकी अपेक्षा, स्वसुखका अनुसंधान—यहाँतक कि रमण-रमणीबोधकी भी अपेक्षा नहीं है। यह रमण-रमणीबोध मधुररस मात्रका या कान्ताभावका जीवन-स्वरूप है। इसके बिना उस जीवनमें कोई सार ही नहीं समझा जाता। परंतु श्रीराधामुख्य गोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममें इसकी भी कोई अपेक्षा या सार्थकता नहीं है। महाभाग्यवती श्रीकृष्णप्रिया परम सती गोपाङ्गनाएँ नित्य विशुद्ध प्रेम-सुधा-रसके उमड़े हुए सागरके प्लावनमें सर्वथा निमग्न हैं। वे एकमात्र प्रियतम-सुखके अतिरिक्त सर्व-विस्मृत हैं। उनकी सम्पूर्ण गतिविधि, सारी चेष्टा-क्रिया एकमात्र श्रीकृष्णसुखमय अनुरागकी ही अभिव्यक्ति है। श्रीराधा इन सबकी मूल उत्स-स्वरूपा प्रेमपराकाष्ठा महाभावमयी हैं। इस महाभावके साथ रसराजका—श्रीराधाके साथ श्रीमाधवका नित्य परमोज्ज्वल रसोल्लास ही व्रजकी अमूल्य तथा अतुल परमार्थ-निधि है।

इस व्रजमें भी 'हतारि-गतिदायक' भगवान्की असुर-वध-लीला होती है। परंतु उस लीलाका प्रभाव व्रजवासी प्रेमियोंके मनपर ऐश्वर्यकी छाया नहीं ला सकता। वे उसमें अपने प्रिय श्रीकृष्णके किसी ऐश्वर्यका अनुभव नहीं करते, बल्कि उससे श्रीकृष्णके प्रति उनका सहज प्यार-दुलार और भी बढ़ता है।

आज इस परम माधुर्यावतारका मङ्गल दिवस है। जिन लोगोंको पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उन्हें भगवान्के इस मधुर स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

व्रजके बाद भगवान्की ऐश्वर्यलीलाका क्रमशः विशेष प्रकाश होता है और मथुरा-द्वारकामें असुरोद्धारकी लीला चलती है। वहाँ भी माधुर्य छिपे-छिपे अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। इसीसे रणाङ्गणमें कही हुई भगवान्की गीतामें भी माधुर्यकी प्रत्यक्ष ज्योत्स्ना दिखायी देती है—

> प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।

सारी मथुरालीला और द्वारकालीलामें यत्र-तत्र माधुर्यके बड़े विलक्षण दर्शन होते हैं, पर साथ ही वहाँ निष्कामभावकी महत्ताके साथ भगवान् अपने आदर्श चरित्रके द्वारा लोकसंग्रहकी लीला प्रधानरूपसे करते हैं। इस लीलामें स्वयं-भगवान्के साथ ही कहीं-कहीं उन्हींमें रहकर लीला करनेवाले ऐश्वर्यस्वरूपोंकी प्रधानता होती है।

यहाँ भगवान् निरीह प्रजाको दुराचारी राजाओंसे छुटकारा दिलाते हैं—कंस, शिशुपाल, जरासंध, शाल्व, नरकासुर, बाणासुर आदि असंख्य असुरभावापन्न राजाओंका दमन करते हैं, पर स्वयं कहीं भी राज्य ग्रहण न करके निष्कामभावका प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करते हैं।

जबतक संसारमें धर्मभीरु, श्रद्धासम्पन्न, भगवद्विश्वासी, भोगोंमें अनासक्त, सर्वभूतहिताकाङ्क्षी, सदाचारपरायण, असंग्रही मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है, जबतक मनुष्यमें कर्तव्यपरायणता और त्यागवृत्तिकी प्रधानता रहती है, तबतक सुख-शान्ति रहती है। मानवकी जीवनयात्रा अपने परम लक्ष्य भगवान्की ओर चलती है। परस्पर सुख पहुँचाने तथा हित करनेकी भावनासे ही सारे कार्य होते हैं—इससे प्रेमकी वृद्धि होती है। पर जब मनुष्य कामोपभोगपरायण होकर शास्त्रवर्जित, संयमहीन स्वेच्छाचार करने तथा धर्मकी मर्यादाको नष्ट करने लगता है, त्यागके स्थानपर अर्थ-लालसा तथा भोग-लालसा एवं कर्तव्यके स्थानपर अधिकारलोलुपता छा जाती है, सहिष्णुताके स्थानपर प्रतिशोधकी भावना, निष्काम सेवाके स्थानपर तुच्छ स्वार्थपरता, संयमके स्थानपर पशुवत् आचार आ जाता है तथा पर-सेवा एवं परहितके स्थानपर परपीडन एवं दुर्बलोंपर अत्याचार होने लगते हैं, सत्यके स्थानपर असत्यका साम्राज्य हो जाता है, जिस किसी प्रकारसे परस्वापहरण ही मनुष्यके स्वभावगत हो जाता है, तब मनुष्यकी सर्वथा अधोमुखी भोग-प्रवृत्ति हो जाती है, वह मनुष्यके रूपमें ही पशु-पिशाच-राक्षस बन जाता है और सर्वत्र अशान्ति तथा दुःखकी प्रबल धारा बहने लगती है। ऐसे दुस्समयमें यदि उस देशमें भगवद्विश्वासी भक्त होते हैं तो वे भगवान्को पुकारते हैं और उनका करुण आर्तस्वर सुनकर दयासिन्धु भगवान उनका दुःख दूर करनेके लिये अवतरित होते हैं।

द्वापरमें यही स्थिति हो गयी है। कंस-जरासंध आदि आसुरभावापन्न प्रभावशाली राजाओंके दुर्दमनीय शासनसे धर्मभीरु प्रजा पीडित और महान् दुखी हो रही थी और आसुरीभावोंका प्रबलताके साथ विस्तार हो रहा था। लोग लौकिक दुःखोंके साथ ही, साधनाके क्षेत्रमें भी अत्यन्त दुखी थे। उनके पास साधनमार्गको सुरक्षित रखने, शान्तचित्तसे साधन करने, जप-तप-कीर्तनादि साधना करनेकी सारी सुविधाएँ छीन ली गयी थीं। वे जबर्दस्ती साधनासे वञ्चित रखे जाते थे। देवमाता गौ तथा वर्णप्रधान ब्राह्मण अत्यन्त दुखी थे। इसी समय भगवान्के विश्वासी भक्तोंने आर्त पुकार की और भगवान्ने प्रकट होकर सबका दुःख-निवारण किया। इस प्रकार जो भगवान्का स्वरूप ऐश्वर्य-प्रधान मानते हैं, वे अपने भावानुसार सेवक-भावसे उन जगत्पिता, सबके माता-धाता-पितामह, सर्वशरण्य, दयासिंधु, करुणा-सागर, अहैतुक प्रेमी, परम सुहृद् भगवान्की उपासना करके अपने लौकिक तथा साधनासम्बन्धी दुःखोंको हटायें।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान्का अवतार न मानकर परम योगेश्वर, ब्रह्मप्राप्त महात्मा, आदर्श लोकसंग्रही और सर्वगुणसम्पन्न महामानव मानते हैं, उनके लिये भी आजका यह भाद्रकृष्ण अष्टमीका दिवस महान् मङ्गलमय एवं आदरणीय है। विश्वके इतिहासमें सर्वगुणसम्पन्न, सभी क्षेत्रोंमें अपनी आदर्श गुणावलियोंके द्वारा प्रकाश तथा शक्तिका विस्तार करनेवाले श्रीकृष्णके सदृश कोई महापुरुष कभी प्रकट ही नहीं हुए। ऐसे महामानवके मङ्गलमय प्राकट्य-दिवसपर सभीको आनन्द—परमानन्दमें मग्न होकर उनके मधुर, मनोहर, सर्वकल्याणमय नाम-गुणोंका स्मरण करना चाहिये और उनके आदर्श एवं आदेशके अनुसार अपना जीवन बनाकर मानवताको सफल करना चाहिये।

नवीननीरदश्यामं नीलेन्दीवरलोचनम्।
वल्लवीनन्दनं वन्दे कृष्णं गोपालरूपिणम्॥

जय नँदनन्दन जय गोपाल। जय मुरलीधर नयन-विशाल॥
राधा-मानस मंजु मराल। जय वसुदेव-देवकी-लाल॥

इच्छा-त्याग

(लेखक—दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

सारे ब्रह्माण्डमें जो-जो प्राणी-पदार्थ हैं, सब विकारी और विनाशी हैं। सब मायाके बनाये हैं। माया परमात्माकी शक्ति है। अर्थात् परमात्माने अपनी शक्तिसे जगत्के प्राणी और पदार्थोंको बनाया है। जैसे जादूगर अपनी शक्तिसे अनेक पदार्थ उत्पन्न करता है और वे उत्पन्न किये हुए पदार्थ प्रेक्षकके देखनेके लिये होते हैं, उनकी दूसरी कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार इस जगत्के प्राणी-पदार्थोंसे जीवात्माको सच्चा सुख, सच्ची तृप्ति नहीं होती; परंतु इन पदार्थोंकी खूबी यह है कि जो इनको देखता है, सुनता है, इनका मनसे ध्यान करता है, उसको ये आकर्षित करते हैं और वह प्राणी इन प्राणी-पदार्थोंसे मोहित होता है, इनको प्राप्त करनेके लिये छटपटाता है। परंतु प्राप्त करनेपर उसे सुखके बदलेमें दुःखका अनुभव होता है। अर्थात् बादमें आधा तो उसको छोड़कर चला जाता है और आधा खड़ा होकर जैसे ही उसको देखता है, वैसे ही वह अनुभूत दुःखको भूलकर उसमें सुख-बुद्धि करके आकर्षित होता है। फिर प्राप्त होता है और फिर दुःख पाता है, इस प्रकार मायाका चक्र, जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है। जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले एक बारके अनुभवसे निश्चय कर लें और फिर उसका सङ्ग न करें। जैसे मिट्टीके एक घड़ेके सम्बन्धमें निश्चय होता है कि घड़ा मिट्टीका है, तब उसके ऊपरसे मिट्टीके तमाम बर्तनोंके गुण-दोषका पता चल जाता है। इसी प्रकार मायाके एक पदार्थके अनुभवसे, उसके द्वारा होनेवाले दुःखके आधारपर सारे मायिक पदार्थोंमें होनेवाली सुख-बुद्धिको दूर करके उसको दुःखरूप जानना और उसका सङ्ग छोड़ना चाहिये और फिर उसको पानेके लिये आकुल न होना चाहिये। छोड़े हुए दुराचार, छोड़े हुए व्यसन सामने खड़े होकर अपने और अपने सङ्गीका सङ्ग करनेके लिये आकर्षित करते हैं और मनुष्य इससे परेशान होता है। इसलिये त्यागे हुए विषयका सङ्ग कदापि न करे। जैसे-जैसे मनुष्य प्राणी-पदार्थके ऊपर दृष्टि स्थिर करता है, उसके विषयमें कान लगाकर सुनता है, मनसे उसके विषयमें विचार करता है, वैसे-वैसे वह उसके वशमें होता चला जाता है। उदाहरणार्थ, यदि स्त्रीके ऊपर दृष्टि डालता है तो उसका चित्त उधर आकर्षित होता है। काञ्चन-कामिनी और मायिक पदार्थोंके सांनिध्यमें रहकर उसके सङ्ग क्रीड़ा करते हुए मनुष्य यदि समझता है कि वह उससे मुक्त है तो वह ठग है, मूर्ख है। जगत्में करोड़ोंमें किसी एकने जनकके समान आचरण किया। उसका दृष्टान्त देकर दम्भी और ठगलोग जगत्को और अपने आपको ठगते हैं। मुमुक्षु तो जैसे हो तैसे, मायिक पदार्थोंका सङ्ग त्याग करनेके लिये यत्नशील रहता है। भोग-त्याग किये बिना मुक्ति कदापि नहीं होती।

जैसे इस जगत्में केवल सुख या केवल दुःख नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें एक भी ऐसा लोक नहीं है जहाँ केवल सुख या केवल दुःख हो। कम-बेश प्रमाणमें सुख-दुःख सर्वत्र होता है। दुःख और कालसे मुक्त कोई देह नहीं है, कोई लोक नहीं है। अतएव किसी भी अवतार या लोककी इच्छाके लिये यत्न न करे। केवल सुख, केवल आनन्दके लिये इच्छा करे; इसीका नाम मुक्तिकी इच्छा है। मुक्तिका अर्थ है दूसरे शरीरकी अप्राप्ति; मुक्तिका अर्थ है केवल सुख, केवल आनन्द, दुःखमात्रका अभाव।

सुख-दुःखका मिश्रण अच्छा है कि केवल सुख अच्छा है? सबको केवल सुख ही अच्छा लगता है। अतएव मुमुक्षु केवल मुक्तिकी इच्छा करे। मुक्तिकी इच्छाका अर्थ है, उसके सिवा सारी इच्छाओंका त्याग। सब इच्छाओंका त्याग करनेपर केवल मुक्तिकी इच्छा ही रह जाती है। मुक्तिकी इच्छाका सेवन करे, अर्थात् प्राणपणसे अन्य सारी इच्छाओंका त्याग करे। जिस प्रमाणमें जगत्के किसी भी प्राणी-पदार्थकी इच्छाका सेवन होगा, उसी प्रमाणमें मुक्तिकी इच्छा निष्फल होगी; जिस प्रमाणमें अन्धकारका सेवन होगा, उसी प्रमाणमें प्रकाशसे वञ्चित होना पड़ेगा। मुक्तिकी इच्छा और भोगेच्छाका त्याग—ये दोनों एक ही वस्तु हैं। अन्तःकरणमें जो इच्छा होती है, वही फलती है। मुखसे सभी मुक्तिकी इच्छाकी बात कहते हैं, परंतु भीतर अनेक प्रकारकी इच्छाएँ होती हैं; इस कारण जीवात्माको मुक्ति नहीं मिलती, उसको अखण्ड शान्ति नहीं होती। मनुष्य जो कुछ शुभ कर्म करता है, उसका फल उसके मनमें होनेवाली इच्छाओंकी पूर्तिमें मिल जाता है। अतएव मुखसे मुक्ति प्राप्त करनेकी बात कहते हुए भी भीतरमें भोगकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य जो-जो शुभ कर्म करता है, वे सारे

कर्म भोग प्रदान करते हैं, सुख-दुःखका भोग प्रदान करते हैं, और केवल सुख—सच्ची शान्तिसे वह विमुख रहता है ।

जैसे कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य जो मनमें कल्पना करता है; वह तुरंत पा जाता है, उसी प्रकार जीव जो मनसे कल्पना करता है और उसके लिये श्रमके द्वारा जितनी एकाग्रताका साधन करता है, उसी प्रमाणमें वह वस्तु उसे मिलती है ।

सुख और दुःखका मिश्रण सारा संसार है । इसमें खूबी यह है कि हजार सुख देनेवाली वस्तुओंमें कहीं एक भी दुःख देनेवाली वस्तु हो तो वह जीवको सालती रहती है और उस सालनेमें नौ सौ निन्यानबे वस्तुओंके सुखका अनुभव वह नहीं कर पाता । इसलिये मानो उन हजारों वस्तुओंका दुःख हो, ऐसा दुःख उसे अनुभव होता रहता है । अतएव जिज्ञासु पुरुष सारी इच्छाओंका त्याग करके मुक्तिकी इच्छाका सेवन करे और ऐसी भावना करे कि जो कुछ कर्म हो वह मुक्तिके लिये हो । तब कहीं प्रयत्नमें लगे रहनेपर वह कालक्रमसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

जबतक 'यह शरीर मैं हूँ, अथवा मैं जीव हूँ, या मैं भोगी हूँ'—इस प्रकारका ज्ञान होता रहता है, तबतक भोगेच्छा नहीं छोड़ती तबतक भीतरसे मुक्तिकी इच्छा नहीं होती । आत्माका स्वरूप, मैं कौन हूँ—इसका विचार करता रहे । विचार करनेपर समझमें आता है कि मैं चेतन हूँ, मैं असङ्ग हूँ और जैसे-जैसे यह समझ पक्की होती जाती है वैसे-वैसे चेतनके सुख-स्वरूप होनेके कारण इच्छाका त्याग होता जाता है । जबतक देह भोक्ता या जीवरूप बना है, तबतक मन इच्छा करता है । चेतनरूप होनेके साथ-साथ इच्छाओंका शमन होता जाता है, अतएव स्वस्वरूपके विचार तथा इच्छामात्रके त्यागसे मुक्ति मिलती है । इस कारण समझमें आता है कि स्वस्वरूप समझनेमें चेतन सदा मुक्त है । पीछे तो मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रहती । परंतु जबतक मुमुक्षुको इच्छा बनी है, तबतक मुक्तिकी इच्छाका ही सेवन करे । स्वस्वरूपके विचारसे आत्माको नित्यमुक्त-स्वरूप जानकर इच्छामात्रका त्याग करे । यह सांख्ययोग है और कर्ममात्रके फल मुक्तिकी इच्छा करते हुए मुक्ति-मार्गपर चलनेका नाम कर्मयोग है । इन दोनों मार्गोंके पृथक्-पृथक् होनेपर भी दोनोंका फल एक मुक्ति ही है । मुक्ति एक ही है । मुक्तिके बिना शाश्वत सुख नहीं है, मुक्तिके बिना शान्ति नहीं है । मनसे इच्छामात्रका त्याग किये बिना स्थायी शान्ति या सुख नहीं होता । इसलिये मुक्तिकी इच्छाका सेवन करते हुए सारी इच्छाओंके त्यागके अभ्याससे, आत्मस्वरूपके विचारसे कर्म करते हुए उसके फलसे मुक्ति हो—इस इच्छाके सेवनसे मुमुक्षु आत्यन्तिक शान्तिको प्राप्त करता है ।

'अन्य विलक्षण'

दिनकर उगता, रजनी आती, कालचक्र चलता अविराम ।
जीवमात्र सब निज-निज रुचिके करते भले-बुरे सब काम ॥
पर जाती न वृत्ति अंतरकी काल-कर्म-कर्त्ताकी ओर ।
रहती नित्य एक ही रसके आस्वादनमें मत्त-विभोर ॥
सोते जगते होते रहते सहज प्रकृतिवश सारे काम ।
किंतु बसा रहता मनमें कुछ 'अन्य विलक्षण' आठों याम ॥
नहीं हटाया हटता पलभर, नहीं छूटता किसी प्रकार ।
दुःख परम शुचि नित्य परम सुख देता रहता वह अविकार ॥

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०)

अङ्गद, हनुमान् आदि वानर जब विभीषणको करुणा-निधान श्रीरघुनाथजीके पास ले गये, तब विभीषणने अपना परिचय प्रभुको इस प्रकार दिया—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता । निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विभीषणने अपने भाईके लिये 'दसानन' शब्दका प्रयोग क्यों किया, लङ्कापतिको और किसी नामसे सम्बोधित क्यों नहीं किया । 'दसानन'से अधिक क्रूर नाम तो 'रावण' है, जिसका अर्थ है 'लोकोंको रुलानेवाला' ।

मानसकी एक विशेषता यह है कि उसमें सब लोग सजग हैं—आँख खोलकर, कान खोलकर रहते हैं । मन्थरा-ने जो रानी कैकेयीको शिक्षा दी थी—

काज सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु ।

—वह केवल कैकेयीके लिये ही नहीं थी । मानसमें हम 'सहसा जनि पतिआहु' का प्रमाण स्थान-स्थानपर पाते हैं । उदाहरणार्थ, पार्वतीजीकी तपस्या अनुपम थी ।

देखि उमहि तप खीन सरीरा । ब्रह्म गिरा भै गगन गभीरा ॥
भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि ।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥
अस तप काहुँ न कीन्ह भवानी । भए अनेक धीर मुनि ग्यानी ॥

निश्चय ही आराध्यदेव शंकरभगवान्‌को इस तपस्याकी बात ज्ञात थी; क्योंकि 'राम कृतग्य कृपाला' स्वयं प्रकट हुए थे और उन्होंने—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी । बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ॥

इसपर भी जब सप्तऋषि शंकरभगवान्‌के पास आये, तब त्रिपुरारि बोले—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीच्छा लेहु ।

ऋषियोंने किस प्रकार पार्वतीजीकी प्रेम-परीक्षा ली, यह सबको विदित है ।

दूसरा उदाहरण मुनीश्वर भरद्वाजका है । वे प्रयागमें रहते थे ।

.................तिन्हहि राम पद अति अनुरागा ॥
तापस सम दम दया निधाना । परमारथ पथ परम सुजाना ॥

परंतु ऐसे मुनीश्वरको भी बिना परीक्षा लिये 'जागबलिक मुनि परम बिबेकी' ने रामकथा नहीं सुनायी । जब याज्ञवल्क्य मुनिने देखा कि—

संभु चरित सुनि सरस सुहावा । भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी । नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी ॥

तब याज्ञवल्क्य ऋषि बोले—

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार ।

और इसके बाद उन भरद्वाज मुनिको अधिकारी जानकर रामचरित सुनाना आरम्भ किया ।

जब राजा जनकको राजा दशरथके स्वर्गवासका समाचार मिला, तब उन्होंने—

...................पठए अवध चतुर चर चारी ॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ । आएहु बेगि न होइ लखाऊ ॥

भरत-ऐसे भाईके मनकी परीक्षा लेने गुप्तचरोंको भेजा !!

भरद्वाज मुनि यह जानते थे कि—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

फिर भी उन्होंने भरतजीके रामानुरागकी परीक्षा ली । ऋद्धि-सिद्धिको आज्ञा देकर—

बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह ।

जहाँ—

रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा । देखि हरष बिसमय बस लोगा ॥

परंतु—

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार ।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार ॥

भरतजीके रामानुरागकी यह परीक्षा थी; क्योंकि—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

इसी प्रकार विभीषणने भी करुणानिधानकी परीक्षा लेना आवश्यक समझा। हनुमान्‌जीने विभीषणसे कहा था—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥

और यह भी कहा—

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

तब विभीषणके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हुई कि 'क्या मेरे-ऐसेको सेवक-रूपसे प्रभु ग्रहण करेंगे ? क्या मेरे-ऐसे अधमपर भी प्रभुकी कृपा होगी ?' इस परीक्षाके लिये उन्होंने 'दसानन कर मैं भ्राता' कहकर अपना परिचय दिया।

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥

रावणके नाम बहुत-से हैं, लेकिन लंकापतिके और किसी नामको न लेकर बुद्धिमान् विभीषणने 'दसानन' नाम ही क्यों लिया ? इसका एक कारण था। करुणानिधान श्रीरघुनाथजीने 'दसानन' नाम एक विशेष संदर्भमें पहली बार सुना था। रावणका 'दसानन' नाम प्रभुके कानमें पहले-पहल तब पड़ा, जब नटवर श्रीरघुनाथजी 'मनहुँ महा बिरही अति कामी' का नाटक कर रहे थे और विकलावस्थामें जानकीजीको खोजते-खोजते वियोग-उन्माद-मत्त होकर 'लता तरु पाँती' से पूछते-पूछते वनमेंसे जा रहे थे कि इतनेमें उन्होंने—

आगें परा गीधपति देखा।

भक्तकी दीन दशा देखकर प्रभु अपना नाटक भूल गये और—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।

दीनदयालु प्रभुको भक्तकी रक्तप्लावित दशा देखकर उसका अङ्ग-भङ्ग शरीर देखकर बहुत दुःख हुआ। वे 'महा बिरही अति कामी' से एकदम करुणानिधान बन गये। करुणाकी अतिके कारण उनके मुँहसे कोई शब्द न निकला। तब गीधराज बोले—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।

'यह गति' कि जिसे देखकर प्रभु जानकीजीके विरह को भूल गये !

नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥

जो अत्यन्त करुण विलाप करती हुई सीताजीको बरबस दक्षिण दिशामें ले गया, अति सुकुमार जानकीजीके आँसुओंसे जिसका दिल न पिघला, वह राक्षस 'दसानन' !! और जब मैंने उसे इस अधर्म-कार्यसे रोका तब नाथ ! उस दसाननने मेरी यह गति कर दी, मुझे अङ्ग-भङ्ग कर दिया, मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दिये, मुझे मृत-प्राय कर दिया !!

प्रभुने रावणका लोकोंके रुलानेवाले रावणका, 'दसानन' नाम सर्वप्रथम इस संदर्भमें सुना था। 'दसानन' वह था, जिसने उनकी प्रियतमाका हरण करके उनको असह्य वियोग-पीड़ा पहुँचायी; 'दसानन' वह था जिसने उनके वर्षों पुराने उस मित्रकी अत्यन्त दयनीय दशा कर दी थी, जिसके साथ उन्होंने 'बहु बिधि' प्रीति बढ़ायी थी और जिसे करुणानिधान श्रीरघुनाथजी पिताके समान आदर करते थे। इसी क्रूर दसाननके नाशकी प्रतिज्ञा करुणानिधान प्रभुने की थी।

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

प्रभुने केवल दसाननके वधकी ही प्रतिज्ञा नहीं की थी; बल्कि कुलसहित दसानन-वधकी !!

इसलिये विभीषण इस दृश्यकी और इस प्रतिज्ञाकी स्मृति दिलाकर उनके शरणागतवत्सल होनेकी परीक्षा लेनेके लिये करुणानिधान प्रभुसे कहते हैं—

'नाथ दसानन कर मैं भ्राता'

हे नाथ ! हे 'दीनदयालु बिरद संभारी' शरणागतवत्सल प्रभो ! मैं उसी दसाननका भाई हूँ !!!

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीके एक-एक शब्दकी भाव और अर्थ-परम्परा है और जबतक हम इन परम्पराओंके बिना समझे मानसका अर्थ करेंगे, तबतक हमारे सामने न मानसका यथार्थ अर्थ खुलेगा और न उसका पूरा आनन्द ही हमको मिलेगा।

पञ्चम पुरुषार्थ

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'हरि नारायण गोविन्द। माधव मोहन मुकुन्द।' देवर्षिकी वीणा-झंकार आयी और गन्धर्वोंके वाद्य मूक हो गये। अप्सराओंके नृत्यचपल पद रुद्ध हुए। महेन्द्र शीघ्रतासे उठे अपने आसनसे और उन्होंने पारिजातके सुमनोंकी अञ्जलि ली।

देवर्षि ऐसे तो नहीं हैं कि किसीको अर्चाका पूरा अवकाश दें। उन्हें इसकी अपेक्षा तो क्या रहेगी, दृष्टि भी इधर नहीं देते कि किसने कब उनके पदोंमें प्रणिपात किया। सुरपति एक सुमनाञ्जलि उनके श्रीचरणोंमें अर्पित कर लें, इतना ही सौभाग्य कम नहीं है।

'देखता हूँ शतक्रतु अब भी सावधान नहीं हैं, जब कि अमरावतीका ऐश्वर्य किसी क्षण उनसे छीन लिया जा सकता है।' पुष्पपरागके मृदुल आस्तरणपर प्रणतिके पश्चात् सुर एवं सभासद् बैठें, इसके पूर्व ही देवर्षिकी वाणीने सबको आतङ्कित कर दिया। 'इतना प्रमाद देवधानीके अधीश्वरको शोभा नहीं देता।'

'क्या हुआ? कोई असुर आ रहा है? दैत्येन्द्र बलि तो रसातलमें हैं और अभी तो यह केवल अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। उनके इन्द्रासनपर आनेका समय तो इस मन्वन्तरके पश्चात् होगा। उनका कोई आश्रित! कोई अन्य दानव, राक्षस! मयने तो कोई नवीन त्रिपुर नहीं बना डाला? उसके लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

'कोई तपस्वी? धरापर तो कलियुग चल रहा है। अन्नगत-प्राण हैं आजकल मर्त्यलोकके निवासी। वहाँ न आज दीर्घकालीन तप सम्भव है और न अश्वमेध-यज्ञोंकी अविच्छिन्न परम्परा।'

देवता, गन्धर्व, किंनर, अप्सराएँ कोई बोल नहीं रहा था; किंतु देवता संकल्पकी भाषामें बोलते हैं। वाणीके मूक रहते भी वहाँ एक व्याकुल कोलाहल उनके अंदर व्याप्त हो रहा था।

'भारतकी पुण्य धराके प्रति सुरपति सावधान नहीं रहेंगे तो किसी क्षण अमरावतीसे निष्कासित कर दिये जा सकते हैं।' आसनपर बैठते-बैठते देवर्षिने चेतावनी दी। 'जहाँ नारायणको बार-बार आनेको विवश कर दिया जाता है, वहाँ सुरपतिका सेव्य कब, कौन, कहाँ है—इस सम्बन्धमें सावधानी रखनी चाहिये। अधिकारीकी उचित सेवा नहीं होगी तो क्या सर्वेश्वर इन्द्रको लोकपालाधिप बने रहने देंगे?'

'कौन हैं वे महाभाग?' सहस्राक्ष तो प्रयत्न करके भी धरापर—भारतीय धरापर भी ऐसा कोई नवीन तपस्वी, कोई त्यागी अथवा अग्निहोत्री नहीं देख पाते। कलाप-ग्रामके महायोगियों अथवा भगवान् दत्तात्रेयके आश्रितोंसे उन्हें कोई भय नहीं है। जो थोड़े-से अमर पुरुष—ऋषि आदि हैं, उनसे वे परिचित हैं। उनका आशीर्वाद प्राप्त है पाकशासनको। अब यह नवीन विपत्ति किधरसे आयी है, वे कुछ समझ नहीं पाते।

'देवेन्द्र केवल योग, तप, यज्ञ और त्याग ही देख पाते हैं।' देवर्षिने आक्षेप किया। 'जगदीश्वर भावाधीन हैं, यह वे प्रायः भूल जाते हैं। भगवती भक्तिदेवीके वरद पुत्रोंकी अचिन्तनीय शक्तिपर देवराजकी दृष्टि जाती ही नहीं।'

'वे तो स्रष्टाके भी वन्दनीय हैं।' इन्द्रने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। 'किंतु वे नित्यनिष्काम एवं अहैतुक कृपालु—उनकी सेवा शतक्रतु क्या करेगा और उनसे किसी-को भी क्या भय हो सकता है।'

'वे कब क्या करेंगे, यह भी कैसे कहा जा सकता है।' देवर्षिने कहा—'अब इस जगद्धात्रीके साधक तारा-कान्तको ही ले लो। कब उसके मनमें क्या इच्छा होगी, किस कामनाको वह झिड़क देगा और किसे पकड़ लेगा—देवी वीणापाणि भी बता सकती हैं क्या?'

भगवती सरस्वती कुछ क्षण पूर्व ही सुरसभामें पधारी थीं और देवराजने उनकी अर्चा की थी। देवर्षिने इस बार उनकी ओर संकेत किया।

'वह पराशक्तिका स्नेहलालित शिशु ।' वाणीकी अधीश्वरी-का स्वर भी वात्सल्यविभोर हो उठा—'उसे तो प्यास लगे तो भी मचलकर पुकार सकता है निखिलेश्वरीको । उसका रोष, उसका मचलना—वह कहाँ निष्काम है । किंतु उसकी कामनाने जो आश्रय लिया है—किसकी शक्ति है जो उस हृदयकी छायाका स्पर्श कर सके ।'

'वह सकाम है तो सुरोंके लिये आतङ्क बन नहीं सकता ।' महेन्द्रकी दृष्टि मन्मथकी ओर उठी ।

'मुझे आशा करनी चाहिये कि इस कुसुम-कलेवर देवता-को उधर भेजनेकी अज्ञता देवाधीश नहीं करेंगे ।' उठते-उठते देवर्षिने चेतावनी दी । 'वह कोई योगी, तपस्वी नहीं है कि वासनाके उत्थानसे उसकी अर्जित साधन-सम्पत्ति क्षीण होगी । कहीं अप्सराओंको देखकर उसके मनमें स्वर्ग भोग लेनेकी इच्छा आ गयी—कल छिनती अमरावती अभी छिन जायगी । वह 'माँ !' कहकर मचलेगा तो महेश्वरी सौ अश्वमेधकी मर्यादा भूल जायँगी । उसमें कामनाका उत्थान न हो, देवधानी वहींतक निश्चिन्त रह सकती है ।'

देवर्षि तो परिव्राजक हैं । वे कहीं जमकर बैठना जानते नहीं । वे चले गये; किंतु कितनी बड़ी आशङ्का दे गये । सृष्टिमें एक ऐसा साधक हो गया है, जो इच्छा करते ही इन्द्रपदपर आ धमकेगा और उसे अवरुद्ध करनेका कोई उपाय सुरोंके समीप नहीं है । केवल उसकी सद्भावनापर निर्भर रहना है । कितनी असहाय स्थिति है यह ।

'मैं कोई सहायता सुरपतिकी नहीं कर सकती ।' देवराज कुछ कहें, इससे पूर्व ही भगवती सरस्वतीने उन्हें निराश कर दिया । 'कोई माता अपने शिशुका किंचित् अहित सोच भी नहीं सकती । सुरेश जानते हैं कि महाशक्तिकी ही ज्योति रमा, उमा और मुझमें प्रतिफलित है और जहाँ उनका वात्सल्य सक्रिय होता है, हमारा स्नेह वहाँ सहज प्रवाहित होता है ।'

× × ×

'वे सुरपतिके सेव्य हैं ।' देवेन्द्रको एक मार्ग मिल गया देवर्षिके कहे वचनोंमेंसे । जहाँ दण्ड और भेदकी नीति न चल सकती हो, साम और दान वहाँ दुर्बलके आश्रय हैं । महेन्द्रको यह उचित लगा कि उन महाभागसे परिचय कर लिया जाय । उन्हें यदि किसी प्रकार कृतज्ञ बनाया जा सके, अमरावती निःशङ्क हो जायगी उनकी ओरसे ।

'वरं ब्रूहि ! सुप्रसन्नोऽस्मि !' ताराकान्त अपनी आह्निक अर्चा समाप्त करके आसनसे उठनेवाले ही थे कि उनका उपासना-कक्ष प्रकाशसे पूर्ण हो गया । उनके सम्मुख दिव्याम्बरधारी, रत्नकिरीटी, वज्रधर इन्द्र प्रकट हो गये थे ।

'आपके आयुधके कारण मैं समझता हूँ कि आप देवराज हैं । इस मानवका अभिवादन स्वीकार करें ।' ताराकान्तने दण्डवत् प्रणिपात तो नहीं किया, किंतु हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया । 'आप आ ही गये हैं तो अतिथिके समान मेरी अर्चा स्वीकार करें ।'

अर्घ्य, पाद्य आदि देवराजने स्वीकार कर लिया; किंतु आसनपर वे आसीन नहीं हुए । देवता भूमिका स्पर्श कहाँ करते हैं । अर्पित नैवेद्य भी रक्खा रहा; क्योंकि देवता तो गन्धमात्र ग्रहण करते हैं । नरके साथ आकर उसके उपहार-का उपभोग तो नरके नित्य सखा नारायण ही करते हैं ।

'वरं ब्रूहि !' देवराजने अर्चाके उपरान्त पुनः आग्रह किया ।

'आप जानते ही हैं कि मैंने आपका आवाहन नहीं किया था । मैं आपका आराधक नहीं हूँ ।' ताराकान्तके स्वरमें अतिशय नम्रताके साथ अद्भुत दृढ़ता थी—'मैं कंगाल नहीं हूँ कि याचना करूँगा । भिक्षाजीवी मैं नहीं हूँ ।'

'आप स्वतः पधारे, आपने मुझ मानवको कृपा करके दर्शन दिया—आपके औदार्यसे, आपकी कृपासे मैं अनुगृहीत हुआ ।' ताराकान्तने देवराजको बोलनेका अवकाश ही नहीं दिया । वे कह रहे थे—'मैं उन जगद्धात्रीका पुत्र हूँ, जिनके भ्रूभङ्गसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और मिटते रहते हैं । महाकाल जिनके भयसे कम्पित होता रहता है, रमा जिनकी कृपाकी कामना दूर करबद्ध खड़ी होकर करती है, उनके शिशुको आप वरदान देंगे ?'

देवराजकी अङ्गकान्ति म्लान हो उठी । उन्हें लगा, कहीं यह अद्भुत व्यक्ति मेरे इस प्रयत्नको अपना अपमान

मानकर रुष्ट न हो जाय, कोई भिक्षुक यदि सम्राट्से कहे कि मुझसे कुछ माँग लो तो भिक्षुकका अहंकार क्या सम्राट्-का अपमान नहीं है। सम्राट् असंतुष्ट हो उठें—उन्हें दोष कैसे दिया जा सकेगा।

'आप मुझे वरदान देने पधारे, इस आपके भोलेपनसे मुझे प्रसन्नता हुई है।' ताराकान्तकी वाणीने इन्द्रको आश्वस्त किया। 'आप पधारें! जिनके शिशुको आपने प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया, वे कृपामयी आपको पुरस्कृत करेंगी।'

पुरस्कार तो महेन्द्रको मिल चुका। वे यह आश्वासन लेकर अमरावती लौट रहे हैं कि इस महामानवसे उन्हें कोई भय नहीं है। इन्द्र-जैसे देवताके तुच्छपदकी कामना उसके अन्तरमें कभी उठेगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

× × ×

'भगवन्! मैं अभय लेकर आया धरासे; किंतु उन महाप्राणको समझ नहीं पाता हूँ।' देवराजने बृहस्पतिके समीप पहुँचकर प्रार्थना की। 'वे नितान्त निष्काम भी नहीं लगे मुझे और उनकी सकामता भी मेरी प्रज्ञा ग्रहण नहीं करती।'

मनुष्यके पुरुषार्थ चार ही हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ और कामकी उपलब्धि संसारमें जिस सीमातक सम्भव है, लोकपालाधिप महेन्द्रकी कृपा उसे सहज दे सकती है। और धर्मसे, यज्ञ-यागादिसे, तप-त्यागसे जिस स्वर्गकी उपलब्धि होती है, उसके वे स्वामी ही हैं। वे स्वयं वरदान देने पहुँचे और उपेक्षित कर दिये गये। त्रिवर्ग ही तो ठुकराया उस महाभागने।

अपवर्गकी बात भी इन्द्र नहीं समझ पाते। अपवर्गके लिये चित्तमें कामनाका लेश भी नहीं होना चाहिये। ताराकान्तका चित्त निष्काम नहीं है, यह देवराज देख सकते हैं। कामनाएँ मिटें, घटें—निष्काम उपासना ही महाशक्तिकी की जाय, ऐसा भी कोई प्रयत्न उस साधकमें नहीं है। त्रिवर्ग ठुकराया गया और मोक्षका साधन नहीं है। कैसा है यह साधक? क्या होना है उसका?

'उनकी कामनाएँ कामनाएँ नहीं हैं शक्र!' देवगुरुने समझाया। 'भुने बीज उगा नहीं करते। परात्परतत्त्वसे युक्त होकर कामना कामना नहीं रह जाती।'

'किंतु लौकिक कामनाएँ चित्तमें उठती हैं……।' इन्द्र अपनी बातको स्पष्ट नहीं कर पाते, यह वे अनुभव कर रहे हैं।

'पतिव्रता पत्नी पतिसे कुछ न चाहे, ऐसा तो कोई नियम नहीं है।' देवगुरु कह रहे थे। 'वह अपना परम कल्याण भी पतिसे चाहती है और अन्न-वस्त्र-आभूषण भी। उसकी लौकिक कामना भी उपासना है। उसकी लौकिक इच्छा भी अपने प्रियको संतुष्ट करने, उनकी सेवाके लिये है। उसकी इच्छापूर्ति करके उसके प्रियको आह्लाद होता है। कामना ही हो उसकी—वह उस कामनाको लेकर भटकती कहाँ है। वह कामना भी तो उसे सेव्यके समीप ही ले जाती है।'

'जब कोई परात्पर परमतत्त्वको अपना मान लेता है, वह माता-पिता, भाई-स्वामी कुछ भी उसे स्वीकार करके सर्वथा उसीपर निर्भर हो जाता है, तो वह पूर्णतत्त्व उसका हो जाता है।' देवगुरुने अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाया। 'पूर्ण-तत्त्वसे युक्त होकर तो द्वेष, काम, भय आदिकी वृत्तियाँ भी मुक्तिदायिनी हुई हैं। कंस, शिशुपालादिकी मुक्तिका रहस्य तुम जानते हो वत्स! चित्त उस आनन्दघनमें लगा हो, यही तो अपेक्षित है।'

इन्द्रने मस्तक झुका लिया। उनका यही क्या कम सौभाग्य है कि वे ऐसे महापुरुषके साथ प्रत्यक्षके कुछ क्षण व्यतीत कर आये हैं। असुर भी मुक्त होते हैं जिनसे द्वेष करके, उनसे प्रेम करनेवालेकी सकामताका परीक्षण करनेकी आवश्यकता भला, सुरेन्द्रको क्या हो सकती है।

'तुम चतुर्वर्गकी सीमामें सोच रहे थे, यही भ्रमका कारण था।' देवगुरुने स्नेहपूर्वक दृष्टि उठायी। 'भक्ति मानवका पञ्चम पुरुषार्थ है—ऐसा सार्वभौम पुरुषार्थ कि उसके अङ्कमें केवल शेष पुरुषार्थ ही नहीं, पुरुषोत्तम स्वयं समा जाता है।'

श्रीराधाके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका पुण्यस्मरण

[श्रीराधा-जन्माष्टमी महोत्सव (सं० २०२१) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारका गोरखपुरमें प्रवचन]

(दिनका प्रवचन)

यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया
विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु ॥

आजका यह मङ्गल दिवस सभीके लिये परम मङ्गलमय, सर्वथा आदरणीय एवं परम सौभाग्यसूचक है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति, नित्य लीलामयी, वृषभानुनन्दिनी, कीर्तिदाकुमारी स्वामिनी श्रीराधाजीकी प्राकट्यलीला आजके दिन इस मङ्गलमय मध्याह्नके समय ही अपने ननिहाल रावल ग्राममें हुई थी। जैसे श्रीकृष्ण नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त अवतारों तथा भगवत्स्वरूपोंके मूल, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत दिव्य गुण-शक्तिमय तथा सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त निधि हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा, लक्ष्मी-सरस्वती आदि समस्त देवियोंकी आदि मूलस्वरूपा, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत दिव्य गुण-शक्तिमय तथा ऐसे अनुपम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी समुद्र हैं जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्णको भी नित्य आकर्षित किये रहते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण और श्रीराधामें शक्तिमान् तथा शक्तिके सदृश नित्य अभेद है। एक ही तत्त्व नित्य दो स्वरूपोंमें लीलायमान है।

ये श्रीराधाजी न तो साहित्यकारों या कवियोंकी कल्पना हैं, न श्रद्धालुओंके श्रद्धाचित्तके द्वारा निर्मित वस्तुविशेष हैं और न आध्यात्मिक तत्त्वविशेषका रूपक ही हैं। ये नित्य सत्य सनातन भगवान्‌की अपृथक् आनन्दशक्ति—ह्लादिनी हैं। 'सर्व प्रथम साहित्य-जगत्‌में इनकी कल्पना हुई और उस कल्पनामें क्रमविकास होते-होते ये श्रद्धास्पदा शक्ति-विशेष बनकर अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी परमाराधिका और परमाराध्या बन गयीं।' इस प्रकार राधाके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी कल्पना-जल्पना की गयी है—यह सत्य है; अनुभवशून्य साहित्यकारोंने श्रीराधाके सम्बन्धमें विविध विचित्र कल्पनाएँ की हैं और लौकिक शृङ्गारी कवियोंने भी अपनी मनोवृत्तिके अनुसार रचना करके श्रीराधाके परमदिव्य अत्युज्ज्वल कल्याण-स्वरूपको निम्न स्तरपर लानेका प्रयास किया है। पर ऐसी किसी भी कल्पना-जल्पनासे न तो परमेश्वरी सच्चिदानन्दमयी भगवान्‌की नित्य ह्लादिनीशक्ति, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी, श्रीकृष्णमयी श्रीराधाजीके अप्रतिम, अलौकिक, दिव्य स्वरूप-तत्त्वमें ही किसी प्रकारकी त्रुटि आयी या आ सकती है और न अनुभवकी आँख रखनेवाले प्रेमियोंके हृदयोंपर कोई प्रभाव पड़ा है; क्योंकि सत्य किसीकी स्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो है ही, नित्य है ही—कोई मानें या न मानें। अवश्य ही न माननेवाले परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं और अभिमानवश विरोध या खण्डन करनेवाले महान् दुष्कर्म करते हैं। श्रीराधारानी अपने सहज कृपालु-स्वभावसे उन्हें क्षमा करें। श्रद्धासम्पन्न प्रेमी साधकों तथा भक्तोंको इन जल्पनाओंपर ध्यान न देकर श्रीराधारानीको नित्य, सत्य, श्रीकृष्णानुरागमयी, साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ करनेवाली परमशक्ति मानकर नित्य-निरन्तर साधनामें संलग्न रहना चाहिये। श्रीराधारानीकी कृपासे स्वयं ही उनके अन्तश्चक्षु खुलेंगे और वे राधारानीके प्रत्यक्ष दर्शन करके समस्त संदेहोंसे अतीत चिन्मयी भूमिकामें पहुँच जायँगे।

पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक त्याग श्रीराधामें स्वाभाविक है। वास्तवमें श्रीराधाजी दिव्य प्रेमस्वरूपा ही हैं, पर

आदर्शके लिये उनका त्याग परमोज्ज्वल है और श्रीगोपाङ्गनाएँ भी उसीका अनुकरण करती हैं। श्रीकृष्णका सुख ही उनका जीवन है। उन्हें न त्यागका भय है न त्यागकी आकाङ्क्षा; इसी प्रकार न वे भोग-वासना रखती हैं और न वे किसी निज कल्याण-कामनासे भोग-त्याग करती हैं। उनका अपना न कोई काम है, न उनके लिये कोई काम्य वस्तु है। वे केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरको जानती हैं और अपने सर्वस्व-समर्पणद्वारा अनवरत उनको सुख पहुँचाया करती हैं। यही उनका जीवन-सार है—

सर्वत्यागमय पूर्ण समर्पण, दोष-बुद्धि-विरहित व्यवहार।
भोग-मोक्ष-इच्छा-विरहित प्रियतम-सुख केवल जीवन-सार॥

इस परम मधुरतम प्रेममें मोक्षसुखकी इच्छाको भी 'काम' माना जाता है। अतः उसका भी सहज त्याग हो जाता है, फिर जगत्के तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है। इस प्रेम-सुधाकी पवित्र मधुर धारा प्रतिक्षण बढ़ती हुई असीमकी ओर प्रवाहित होती रहती है।

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल, जो काम-कलुषसे रहित उदार।
शशधर-कला सदृश प्रतिपल ही बढ़ता रहता सहज अपार॥
नहीं कभी भी, किसी हेतुसे हो सकता उसका प्रतिरोध।
नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव विरोध॥
धन-जन-तन, बहुभोग-जनित सुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव।
नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव॥
नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम।
जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम॥
प्रियतम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेम-सुधा-रस-पारावार।
करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार॥
उठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम, अमल, अमित अविराम।
देतीं सतत अनन्त कालतक सुख शुचि, नित्य-नवीन, ललाम॥
इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार।
उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किंचित् काम-विकार॥
रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र।
सदा अमृतरस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र॥

श्रीराधामें इस प्रेम-समर्पणकी पूर्णता है। इसीसे वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हुई, नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णमें नित्य नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका अनुभव करती हैं।

इस मधुररसमें अनुराग ही स्थायी भाव है। जो राग नित्य-निरन्तर नये-नये रूपमें परिणत होता हुआ सर्वदा अनुभूत, सदा मिलित प्रेमास्पदको देखते ही उसमें प्रतिक्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन कराता है, ऐसे बढ़े हुए रागको अनुराग कहते हैं। श्रीराधा और गोपसुन्दरियोंको इसीसे प्रियतम श्यामसुन्दरमें प्रतिपल नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यके दर्शन होते हैं। एक दिनकी बात है। अखिल विश्वविमोहन श्रीकृष्ण राधिकाजीके समीप विराजमान थे। उनके विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्यको वे सदा ही देखती आयी हैं, पर वह उन्हें नित्य ही पूर्वापेक्षा बहुत अधिक सुन्दर मधुर प्रतीत होता है। आज उन्हें देखते ही श्रीराधाजी वृन्दासे बोलीं—'ये कौन हैं?' वृन्दाने कहा—'श्रीकृष्ण हैं!' यह सुनते ही श्रीराधारानी आश्चर्यचकित होकर कहने लगीं—'प्रियतम श्यामसुन्दर तो न जाने कितनी बार मेरे नेत्रोंको सुख दे चुके हैं; परंतु आज मैं जैसा अपूर्व अतिशय माधुर्य देख रही हूँ, वैसा तो पहले कभी नहीं देखा था। अहा! इस समय तो इन प्रेममयके एक-एक अङ्गके एक-एक रोमसे शोभाश्रीकी ऐसी सुधाधारा बह रही है कि उसके एक बूँदके आस्वादन करनेकी भी शक्ति मेरे नेत्रोंमें नहीं है।

प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या
श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम्॥

सखी री, यह अनुभवकी बात।
प्रतिपल दीखत नित नव सुन्दर, नित नव मधुर लखात॥

× × ×

कबुवै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।
देखत-देखत जनम सिरान्यौ, तऊ नैन नित तरसत॥

राधा-प्रेम-समुद्रमें नित्य नयी तरङ्गें उठती रहती हैं। यहाँ उन तरङ्गोंमेंसे दो-एककी झाँकी कीजिये—

एक बार बातचीतके प्रसङ्गमें श्रीराधाके सामने ललिताजीके मुखसे 'कृष्ण' नामका उच्चारण हो गया। बस, उसे सुनते ही श्रीराधाजी अत्यन्त विवश होकर कहने लगीं—

'सखि, यह कैसा मधुर नाम है, इसने तो मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही मेरे सारे धैर्यका हरण कर लिया। बता, यह किसका नाम है? वह कृष्ण कौन है?' ललिताने श्रीराधाकी यह बात सुनकर कहा—'अरी रागान्धे राधे! तुम यह कैसी अज्ञताकी-सी बात कह रही हो? तुम तो नित्य ही उन श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करती हो!' राधाजीने कहा— 'सखि! परिहास न करो।' तब ललिताजी बोलीं—'पगली! अभी-अभी तो मैंने तुमको उनके हाथोंमें समर्पण किया था।' तदनन्तर श्रीराधारानी बहुत देरतक सोचनेके बाद सिर हिलाती हुई बोलीं—'हाँ सखि! सत्य है। इन कृष्णको बस, अभी आज ही देखा है; सो भी जन्मभरमें एक बार केवल बिजली कौंधनेकी भाँति—

सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः॥

एक दिन निकुञ्जमें श्रीराधारानीकी प्रिय श्यामसुन्दरके साथ प्रेमचर्चा हो रही थी—तब उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्हें सुनते-सुनते श्यामसुन्दर गद्गद हो गये। राधाजीने जो कुछ कहा, उससे पवित्र प्रेम-राज्यमें वे किस भूमिकापर स्थित हैं और प्रेम तथा प्रेमलीलाका क्या स्वरूप होता है—विचार करनेपर इसका कुछ अनुमान लग सकता है। वे बोलीं—

मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी, तुम मैं, मैं तुम, सङ्ग असङ्ग।
पता नहीं, कबसे मैं तुम बन, तुम मैं बने कर रहे रङ्ग॥
होता जब वियोग, तब उठती तीव्र मिलन-आकाङ्क्षा जाग।
पल-अमिलन होता असह्य तब, लगती हृदय दहकने आग॥
चलती मैं रस-सरि उन्मादिनि विह्वल, विकल तुम्हारी ओर।
चलते उमड़ मिलाने निजमें तुम भी रससमुद्र तज छोर॥
लीला-रस-आस्वादनहित तुम-मैं बनकर वियोग-संयोग।
धर अनेक रस-रूप रमण-रमणी करते नव-नव संभोग॥
किंतु मैं न रमणी, न रमण तुम; एक परम चिन्मय रस-तत्त्व।
आश्रय-विषयालम्बन बन नित लीला रत रुचि सुचितम तत्त्व॥

प्रियतम श्यामसुन्दर! तुम मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ। तुम मैं हो, मैं तुम हूँ। हम दोनों साथ रहते हुए भी असङ्ग हैं। पता नहीं कबसे मैं तुम और तुम मैं बने हुए खेल कर रहे हैं। जब वियोग होता है, तब अत्यन्त तीव्र मिलनाकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, फिर एक-एक पलका अमिलन असह्य हो उठता है और हृदयमें ज्वाला धधक उठती है। उस समय मैं रस-सरिता उन्मादिनी और विह्वल-विकल होकर तुम्हारी ओर चल पड़ती हूँ, उधर तुम रससमुद्र भी कूल-किनारा त्यागकर मुझे अपनेमें मिला लेनेके लिये उमड़ चलते हो। वस्तुतः हम दोनोंमें कभी अलगाव या वियोग-विछोह होता ही नहीं, पर लीलारस-आस्वादनके लिये तुम और मैं स्वयं ही वियोग और संयोग बनकर, रमण-रमणीरूप अनेक रसविग्रह धारणकर नये-नये सम्भोगका सेवन करते हैं। वस्तुतः न मैं रमणी हूँ और न तुम रमण ही हो, हम दोनों ही एक परम चिन्मय रसतत्त्व हैं और हमीं दोनों सुन्दर पवित्रतम तत्त्व परस्पर आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर नित्य लीला-विलास करते रहते हैं।

एक दिन व्रजेन्द्रनन्दन अखिलरसामृत-मूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको देखकर राधाजी चमत्कृत हो जाती हैं और विशाखासे कहती हैं—

सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसम्प्लावकः
कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गधः।
सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत्पीयूषरम्याधरः
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे॥

(गोविन्दलीलामृत)

'सौन्दर्य-सुधा-समुद्रकी तरङ्गोंसे जो ललनाओंके (प्रेम-भक्ति-साधकोंके) चित्तरूप पर्वतको पूर्णरूपसे प्लावित कर देते हैं, जिनके हास्यपूर्ण मनोहर सुवचन कर्णकुहरोंको आनन्दसे पूर्ण कर देते हैं, जिनका अङ्ग

[को]टि-शरदिन्दुकी ज्योत्स्नाके सदृश शीतल है, जिनका [अ]धरामृत साक्षात् दिव्य पीयूष है और जिनके अधरोंके सौरभरूप सुधा-समुद्रसे विश्वब्रह्माण्ड सम्प्लावित है—सखि! वे गोपेन्द्रतनय—व्रजेन्द्रनन्दन मेरी समस्त इन्द्रियोंका बरबस आकर्षण कर रहे हैं।'

श्यामसुन्दर श्रीराधा-मुखारविन्दके निरीक्षणानन्दमें मुग्ध थे, उन्हें देखकर विशाखाने श्रीराधासे कहा—

कोटि-कोटि-कंदर्प-दर्पहर हैं माधव सौन्दर्यनिधान।
तुम्हें देखते ही बढ़ आयी इनमें सुन्दरता सुमहान॥
माधव हैं सौन्दर्य अतुल, माधुर्य-रस-सुधा-पारावार।
शशि-ज्योत्स्नासे सागरकी ज्यों उठती आनन्दोर्मि अपार॥
देखो! कैसे विह्वल हो ये भूल स्वरूपानन्द पवित्र।
तव मुख-कमल-निरीक्षण-सुखमें खड़े विभोर लिखे-से चित्र॥

एक बार किसीने श्रीराधाके पास आकर श्रीकृष्णमें स्वरूप-सौन्दर्यका और सद्गुणोंका अभाव बतलाया और कहा कि 'वे तुमसे प्रेम नहीं करते।' विशुद्ध प्रेम रूप-गुणकी तथा बदलेमें सुख प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं करता— **'गुणरहितं कामनारहितम्'**……और वह बिना किसी हेतुके ही प्रतिक्षण सहज ही बढ़ता रहता है—**'प्रतिक्षणवर्धमानम्'**। श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध प्रेमकी सम्पूर्ण प्रतिमा हैं, अतः वे बोलीं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणावरुणालयरूपसे कृपा करते हों, वे श्यामसुन्दर ही मेरी एकमात्र गति हैं।'

महाप्रभु चैतन्यने कहा है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटी हुई मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शनसे वञ्चित रख मर्माहत कर दें। सारांश, वे लम्पटतावश जैसे चाहें वैसे करें; मेरे प्राणनाथ तो वे ही हैं, दूसरा कोई नहीं।'

प्रेम वास्तवमें देना जानता है, लेना जानता ही नहीं; उसमें लेन-देनका सौदा नहीं है। प्रेमास्पदके दोष प्रेमीको दीखते ही नहीं, वह सदा उसमें गुण ही देखता है और समझता है कि प्रेमास्पद सदा मुझे सुख देते ही रहते हैं। निरन्तर देते रहनेपर भी देनेका भान न हो और अपनेको लेनेवाला ही माना जाय; केवल माना न जाय, ठीक ऐसा ही अनुभव हो—त्यागकी ऐसी पराकाष्ठा जहाँ है, वहीं विशुद्ध प्रेम है। इस विशुद्ध प्रेमकी प्राप्तिके लिये हृदयका द्रवित होना आवश्यक है और इसके लिये श्रीरूपगोस्वामी महोदयने ये साधन बतलाये हैं। वास्तवमें प्रेम साधन-साध्य नहीं है, वह तो कृपासाध्य ही है; पर इन साधनोंसे प्रेम-प्राप्ति करानेवाले भगवत्कृपा-लाभकी सम्भावना हो जाती है। वे कहते हैं—

शान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जात भावाङ्कुरे जने॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

सहनशीलता या बुरा करनेवालेका भी भला करनेकी प्रचेष्टा; भगवच्चर्चा, भगवत्सेवा, सत्सङ्ग, सदाचरणमें लगे रहना—व्यर्थ समय तनिक भी न खोना; भोग-विषयोंमें आसक्ति न रहना; अभिमानशून्यता; भगवत्कृपा एवं भगवत्प्रेमकी प्राप्ति अवश्य होगी—ऐसी दृढ़ बद्धमूल आशा, भगवान्से मिलनेकी उत्कट लालसा, भगवान्के मधुर नाम-गानमें सदा रुचि, भगवान्के गुण-लीला-

श्रवण-कथनमें आसक्ति और भगवान्के लीला-स्थलोंमें प्रीति—जिसके आचरणमें इन भावोंका उदय हो, समझना चाहिये भगवान्के प्रेमका अङ्कुर उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया है। अकारण कृपा करनेवाली श्रीराधा-रानीसे हम सबकी विनीत प्रार्थना है कि वे ऐसी कृपा करें जिससे हम सबके जीवनमें उनकी चरण-रजके प्रति अहैतुकी प्रीति उत्पन्न हो।

बंदौं श्रीराधाचरन पावन परम उदार।
भय-विषाद-अग्यान हर प्रेमभक्ति-दातार॥

(२)

(रात्रिका प्रवचन)

उज्जृम्भमाणरसवारिनिधेस्तरङ्गै-
रङ्गैरिव प्रणयलोलविलोचनायाः।
तस्याः कदा नु भविता मयि पुण्यदृष्टि-
र्वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः॥
वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्दं
प्रेमामृतैकमकरन्दरसौघपूर्णम्।
हृद्यर्पितं मधुपतेः स्मरतापमुग्रं
निर्वापयत्परमशीतलमाश्रयामि॥

आज श्रीश्रीराधा-जन्माष्टमीके पुण्यपर्वपर श्रीराधा-माधवके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका यत्किंचित् चिन्तन-स्मरण करके अपने जीवनके क्षणोंको धन्य करनेके लिये आप सब सुविज्ञ-विद्वान् प्रेमी महानुभावोंके सामने कुछ निवेदन कर रहा हूँ। धृष्टताके लिये करबद्ध क्षमाप्रार्थी।

परात्पर परतत्त्वस्वरूप समग्र भगवान् सच्चिदानन्द हैं। ब्रह्म, परमात्मा आदि उन्हींके विभिन्न अभिन्न स्वरूप हैं। सत्-चित्-आनन्द उनके स्वरूप-भूत गुण या उनकी नित्य स्वरूपा-शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्में नित्य अभेद है। एकके बिना दूसरेकी सत्ता संदेहमें पड़ जाती है। शक्ति नहीं है तो शक्तिमान् कोई वस्तु नहीं और शक्तिमान् न हो तो शक्तिका निवास कहाँ हो। शक्तिके दो स्वरूप नित्य सिद्ध हैं—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त स्वरूपमें शक्ति शक्तिमान्में तिरोहित है। वहाँ परतत्त्व भगवान् अपनी आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी आदि शक्तियोंके साथ निर्विशेष निर्भेदरूपमें बाह्य-लीलारहित लीलामें स्थित हैं। इस अद्वैत-तत्त्व-अवस्थामें प्रत्यक्ष लीलाविलास नहीं है। पर इसीके साथ युगपत् परतत्त्व भगवान्की निज स्वरूपभूता वे ही ह्लादिनी आदि शक्तियाँ लीला-रसास्वादनके लिये मूर्तरूपमें भी प्रकट रहती हैं। यहाँ शक्तियोंके साथ परतत्त्व शक्तिमान् भगवान् भिन्न-भिन्न रूपोंमें लीलायमान रहते हैं। परस्वरूपके तत्त्वतः एक होनेपर भी अनादिकालसे दोनों रूपोंमें लीला-रसका आस्वादन चलता रहता है। भगवान्की स्वरूपा-शक्तियोंमें आनन्द या ह्लादिनी ही सर्वप्रधान है। वह ह्लादिनी-शक्ति 'भाव'रूपा है और शक्तिमान् भगवान् 'रस'रूप हैं। ह्लादिनी-भावकी पूर्ण परिणति 'महाभाव' है और भगवान् 'रसराज' हैं। महाभावरूपा श्रीराधाके बिना रसराज श्रीकृष्णकी और रसराज श्रीकृष्णके बिना महाभावरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपसुन्दरियोंकी एवं इन दोनोंके बिना उत्तरोत्तर दिव्य परमानन्दकी नित्य आनन्दवर्धक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

बिना राधां कृष्णो न खलु सुखदः सा न सुखदा
बिना कृष्णं द्वाभ्यामपि बत विनान्या न सरसाः।
बिना रात्रिं नेन्दुस्तमपि न विना सा च रुचिभाग्
बिना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नितराम्॥

'श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण सुखद नहीं हैं और श्रीकृष्णके बिना राधा सुखदा नहीं हैं और इन दोनोंके बिना अन्य सखियाँ भी रसमयी नहीं हैं। जैसे रात्रिके बिना सुधांशु शोभायुक्त नहीं और सुधांशुके बिना रजनी शोभामयी नहीं है और इन दोनोंके बिना कुमुदिनी प्रमुदित नहीं होती।'

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवदानन्दस्वरूपा श्रीराधाका ही स्वरूप-विस्तार हैं। साधारणतः श्रीकृष्णप्रेममयी

गोपाङ्गनाओंके दो भेद हैं—'नित्यसिद्धा' और 'साधनसिद्धा'। इनमें नित्यसिद्धा गोपियाँ नित्य ही सच्चिदानन्दस्वरूपा हैं। वे कभी प्राकृत मानवरूपा नहीं हैं। वे भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियाँ हैं। श्रीराधाकी इन कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका लीला-स्वरूप दिव्य प्रेम-रमण अनादि-अनन्त है। साधनसिद्धा गोपाङ्गनाओंके तीन भेद हैं—श्रुतिचरी, ऋषिचरी और देवकन्याएँ। इनमें दण्डकारण्यवासी महर्षि, जो श्रीकृष्णके प्रति प्रेयसीभाव-सम्पन्न थे और जिन्होंने रमणी-देह प्राप्त करके गोपियोंके घरोंमें जन्म ग्रहण किया था, 'ऋषिचरी' हैं। नित्यसिद्धा गोपियोंके भावसे प्रलुब्ध जो श्रुतियाँ गोपियोंमें ही गोपीरूपसे प्रकट हुई थीं, वे 'श्रुतिचरी' हैं। स्वयं ब्रह्मविद्याने भी तप करके गोपी-रूपमें जन्म ग्रहण किया था। श्रुतियोंका गोपीरूपमें प्रकट होना श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति (१० । ८७ । २३) में संकेतरूपसे प्रमाणित है। वहाँ श्रुतियाँ कहती हैं—'हम गोपरमणियोंके समान भाववाले गोपीविग्रहको और तुम्हारे श्रीचरण-सांनिध्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी हैं।' देवाङ्गनाएँ तो श्रीकृष्णकी परमप्रिया श्रीराधाकी सेवाके लिये ही प्रकट हुई थीं। ब्रह्माजीने कहा था—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
(श्रीमद्भागवत १० । १ । २३)

'परमपुरुष साक्षात् भगवान् वसुदेवके घरमें प्रकट होंगे। तुम देव-रमणियाँ उनकी प्रिया (श्रीराधा आदि) की सेवा करनेके लिये जन्म ग्रहण करो।' ये सभी गोपाङ्गनाएँ लौकिक कामरागसे सर्वथा रहित श्रीकृष्णप्रेम-रसमयी हैं। इसीसे स्वयं ब्रह्माजीने भी इन श्रीगोप-रमणियोंकी चरणरजका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये व्रजमें किसी भी जड-चेतन योनिमें प्रकट होनेकी कामना की थी—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भागवत १० । १४ । ३४)

श्रीउद्धवजीने इनकी चरण-रज पानेके लिये गुल्म-लता-ओषधि बनकर व्रजमें प्रकट होना चाहा था। अतः इन सब स्वसुख-वासना-लेश-गन्ध-विहीन कृष्ण-सुख-विग्रहा श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा अनन्त, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। इनमें इन सबकी मूल आधाररूपा, आत्मरूपा, गोपीप्रेमकी मूल उत्सरूपा हैं—महाभावमयी श्रीराधिकाजी। श्रीराधा रसराज श्रीकृष्णकी वही स्वरूप-भूता ह्लादिनी शक्ति हैं, जिसके द्वारा स्वरूपानन्दी श्रीकृष्ण स्वयं विलक्षण स्वरूपानन्दका विशेष आस्वादन करते तथा प्रेमियोंको करवाते हैं। यही भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्दमयी स्वरूपाशक्ति प्रेमसाम्राज्यके नित्य पवित्र क्षेत्रमें प्रेमका—भक्तिका बाना धारणकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव-रूपसे ख्यात होती है और मूर्तविग्रहरूपमें 'महाभाव' नामक प्रेमरससे विभावित राधारूपमें प्रकट रहती है। श्रीराधाजी श्रीकृष्णप्रेमकी ही प्रगाढ़तम स्थिति मादनाख्य महाभावस्वरूपा हैं। यह मादनाख्य महाभाव ह्लादिनी शक्तिकी चरम परिणति होनेपर भी उत्तरोत्तर नव-नव रूपमें विकसित होता रहता है। यही प्रेम-विलास है। वस्तुतः विशुद्ध प्रेमके ही लीलायमान होनेपर भोग-वासनाविहीन अप्राकृत प्रेमी-प्रेमास्पदके अप्राकृत मनोंमें जिन परम पवित्र प्रिय-सुख-हैतुक मानसिक अवस्थाओंका उदय होता है, उन्हींको प्रेमविलास कहते हैं।

एक-से-एक बढ़कर विघ्नों—अन्तरायोंके आनेपर भी जब मधुर रति (प्रेम) अभेद्य, अखण्ड, अक्षुण्ण और अविचलित ही नहीं, वरं स्नेह-मान-प्रणयादि रूपोंमें उत्तरोत्तर विकसित होती हुई उच्च-से-उच्च स्तरपर चढ़ती चली जाती है, तभी यथार्थ 'प्रेमविलास' सिद्ध

श्रवण-कथनमें आसक्ति और भगवान्‌के लीला-स्थलोंमें प्रीति—जिसके आचरणमें इन भावोंका उदय हो, समझना चाहिये भगवान्‌के प्रेमका अङ्कुर उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया है। अकारण कृपा करनेवाली श्रीराधारानीसे हम सबकी विनीत प्रार्थना है कि वे ऐसी कृपा करें जिससे हम सबके जीवनमें उनकी चरण-रजके प्रति अहैतुकी प्रीति उत्पन्न हो।

बंदौं श्रीराधाचरन पावन परम उदार।
भय-बिषाद-अग्यान हर प्रेमभक्ति-दातार॥

(२)

(रात्रिका प्रवचन)

उज्जृम्भमाणरसवारिनिधेस्तरङ्गै-
रङ्गैरिव प्रणयलोलविलोचनायाः।
तस्याः कदा नु भविता मयि पुण्यदृष्टि-
र्वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः॥
वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्दं
प्रेमामृतैकमकरन्दरसौघपूर्णम्।
हृद्यर्पितं मधुपतेः स्मरतापमुग्रं
निर्वापयत्परमशीतलमाश्रयामि॥

आज श्रीश्रीराधा-जन्माष्टमीके पुण्यपर्वपर श्रीराधा-माधवके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका यत्किंचित् चिन्तन-स्मरण करके अपने जीवनके क्षणोंको धन्य करनेके लिये आप सब सुविज्ञ-विद्वान् प्रेमी महानुभावोंके सामने कुछ निवेदन कर रहा हूँ। धृष्टताके लिये करबद्ध क्षमाप्रार्थी।

परात्पर परतत्त्वस्वरूप समग्र भगवान् सच्चिदानन्द हैं। ब्रह्म, परमात्मा आदि उन्हींके विभिन्न अभिन्न स्वरूप हैं। सत्-चित्-आनन्द उनके स्वरूप-भूत गुण या उनकी नित्य स्वरूपा-शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में नित्य अभेद है। एकके बिना दूसरेकी सत्ता संदेहमें पड़ जाती है। शक्ति नहीं है तो शक्तिमान् कोई वस्तु नहीं और शक्तिमान् न हो तो शक्तिका निवास कहाँ हो। शक्तिके दो स्वरूप नित्य सिद्ध हैं—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त स्वरूपमें शक्ति शक्तिमान्‌में तिरोहित है। वहाँ परतत्त्व भगवान् अपनी आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी आदि शक्तियोंके साथ निर्विशेष निर्भेदरूपमें बाह्य-लीलारहित लीलामें स्थित हैं। इस अद्वैत-तत्त्व-अवस्थामें प्रत्यक्ष लीलाविलास नहीं है। पर इसीके साथ युगपत् परतत्त्व भगवान्‌की निज स्वरूपभूता वे ही ह्लादिनी आदि शक्तियाँ लीला-रसास्वादनके लिये मूर्तरूपमें भी प्रकट रहती हैं। यहाँ शक्तियोंके साथ परतत्त्व शक्तिमान् भगवान् भिन्न-भिन्न रूपोंमें लीलायमान रहते हैं। परस्वरूपके तत्त्वतः एक होनेपर भी अनादिकालसे दोनों रूपोंमें लीला-रसका आस्वादन चलता रहता है। भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियोंमें आनन्द या ह्लादिनी ही सर्वप्रधान है। वह ह्लादिनी-शक्ति 'भाव'रूपा है और शक्तिमान् भगवान् 'रस'रूप हैं। ह्लादिनी-भावकी पूर्ण परिणति 'महाभाव' है और भगवान् 'रसराज' हैं। महाभावरूपा श्रीराधाके बिना रसराज श्रीकृष्णकी और रसराज श्रीकृष्णके बिना महाभावरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपसुन्दरियोंकी एवं इन दोनोंके बिना उत्तरोत्तर दिव्य परमानन्दकी नित्य आनन्दवर्धक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

विना राधां कृष्णो न खलु सुखदः सा न सुखदा
विना कृष्णं द्वाभ्यामपि बत विनान्या न सरसाः।
विना रात्रिं नेन्दुस्तमपि न विना सा च रुचिभाग्
विना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नितराम्॥

'श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण सुखद नहीं हैं और श्रीकृष्णके बिना राधा सुखदा नहीं हैं और इन दोनोंके बिना अन्य सखियाँ भी रसमयी नहीं हैं। जैसे रात्रिके बिना सुधांशु शोभायुक्त नहीं और सुधांशुके बिना रजनी शोभामयी नहीं है और इन दोनोंके बिना कुमुदिनी प्रमुदित नहीं होती।'

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवदानन्दस्वरूपा श्रीराधाका ही स्वरूप-विस्तार हैं। साधारणतः श्रीकृष्णप्रेममयी

गोपाङ्गनाओंके दो भेद हैं—'नित्यसिद्धा' और 'साधनसिद्धा'। इनमें नित्यसिद्धा गोपियाँ नित्य ही सच्चिदानन्दस्वरूपा हैं। वे कभी प्राकृत मानवरूपा नहीं हैं। वे भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियाँ हैं। श्रीराधाकी इन कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका लीला-स्वरूप दिव्य प्रेम-रमण अनादि-अनन्त है। साधनसिद्धा गोपाङ्गनाओंके तीन भेद हैं—श्रुतिचरी, ऋषिचरी और देवकन्याएँ। इनमें दण्डकारण्यवासी महर्षि, जो श्रीकृष्णके प्रति प्रेयसीभाव-सम्पन्न थे और जिन्होंने रमणी-देह प्राप्त करके गोपियोंके घरोंमें जन्म ग्रहण किया था, 'ऋषिचरी' हैं। नित्यसिद्धा गोपियोंके भावसे प्रलुब्ध जो श्रुतियाँ गोपियोंमें ही गोपीरूपसे प्रकट हुई थीं, वे 'श्रुतिचरी' हैं। स्वयं ब्रह्मविद्याने भी तप करके गोपी-रूपमें जन्म ग्रहण किया था। श्रुतियोंका गोपीरूपमें प्रकट होना श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति (१० । ८७ । २३) में संकेतरूपसे प्रमाणित है। वहाँ श्रुतियाँ कहती हैं—'हम गोपरमणियोंके समान भाववाले गोपीविग्रहको और तुम्हारे श्रीचरण-सांनिध्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी हैं।' देवाङ्गनाएँ तो श्रीकृष्णकी परमप्रिया श्रीराधाकी सेवाके लिये ही प्रकट हुई थीं। ब्रह्माजीने कहा था—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

(श्रीमद्भागवत १० । १ । २३)

'परमपुरुष साक्षात् भगवान् वसुदेवके घरमें प्रकट होंगे। तुम देव-रमणियाँ उनकी प्रिया (श्रीराधा आदि) की सेवा करनेके लिये जन्म ग्रहण करो।' ये सभी गोपाङ्गनाएँ लौकिक कामरागसे सर्वथा रहित श्रीकृष्णप्रेम-रसमयी हैं। इसीसे स्वयं ब्रह्माजीने भी इन श्रीगोप-रमणियोंकी चरणरजका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये व्रजमें किसी भी जड-चेतन योनिमें प्रकट होनेकी कामना की थी—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भागवत १० । १४ । ३४)

श्रीउद्धवजीने इनकी चरण-रज पानेके लिये गुल्म-लता-ओषधि बनकर व्रजमें प्रकट होना चाहा था। अतः इन सब स्वसुख-वासना-लेश-गन्ध-विहीन कृष्ण-सुख-विग्रहा श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा अनन्त, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। इनमें इन सबकी मूल आधाररूपा, आत्मरूपा, गोपीप्रेमकी मूल उत्सरूपा हैं—महाभावमयी श्रीराधिकाजी। श्रीराधा रसराज श्रीकृष्णकी वही स्वरूप-भूता ह्लादिनी शक्ति हैं, जिसके द्वारा स्वरूपानन्दी श्रीकृष्ण स्वयं विलक्षण स्वरूपानन्दका विशेष आस्वादन करते तथा प्रेमियोंको करवाते हैं। यही भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्दमयी स्वरूपाशक्ति प्रेमसाम्राज्यके नित्य पवित्र क्षेत्रमें प्रेमका—भक्तिका बाना धारणकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव-रूपसे ख्यात होती है और मूर्तविग्रहरूपमें 'महाभाव' नामक प्रेमरससे विभावित राधारूपमें प्रकट रहती है। श्रीराधाजी श्रीकृष्णप्रेमकी ही प्रगाढ़तम स्थिति मादनाख्य महाभावस्वरूपा हैं। यह मादनाख्य महाभाव ह्लादिनी शक्तिकी चरम परिणति होनेपर भी उत्तरोत्तर नव-नव रूपमें विकसित होता रहता है। यही प्रेम-विलास है। वस्तुतः विशुद्ध प्रेमके ही लीलायमान होनेपर भोग-वासनाविहीन अप्राकृत प्रेमी-प्रेमास्पदके अप्राकृत मनोंमें जिन परम पवित्र प्रिय-सुख-हैतुक मानसिक अवस्थाओंका उदय होता है, उन्हींको प्रेमविलास कहते हैं।

एक-से-एक बढ़कर विघ्नों—अन्तरायोंके आनेपर भी जब मधुर रति (प्रेम) अभेद्य, अखण्ड, अक्षुण्ण और अविचलित ही नहीं, वरं स्नेह-मान-प्रणयादि रूपोंमें उत्तरोत्तर विकसित होती हुई उच्च-से-उच्च स्तरपर चढ़ती चली जाती है, तभी यथार्थ 'प्रेमविलास' सिद्ध

होता है । प्रेम-सूर्यका उदय होनेपर उसके तापसे चित्त-नवनीत द्रवित होकर उत्तरोत्तर उत्कर्षको प्राप्त होता हुआ महाभावरूपतक पहुँच जाता है । इस प्रकार विशुद्ध प्रेमके विविध विचित्र रूपोंमें लीलायमान होनेपर प्रेमी-प्रेमास्पदमें जिन मानसिक अवस्थाओंका आविर्भाव होता है, वह प्रेम-विलास ही है ।

श्रीराधा नित्य निर्गुणरूपा—प्राकृत गुणोंसे रहित, प्रियतम श्रीकृष्ण-सुखकी आधाररूपा हैं और श्रीकृष्ण भी निर्गुण—प्राकृत गुणोंसे शून्य (राधा-प्रेमसमुद्रमें नित्य निमज्जित) हैं। श्रीराधा-कृष्णका नित्य लीलाविहार परम प्रेममय, सकल सरस सम्पूर्ण परमानन्दस्वरूप है। परम भागवत परमहंसोंका तो वही जीवन है । राधाप्राणवल्लभ श्रीकृष्ण अपने अतुल असमोर्ध्व दिव्य सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, सौगन्ध्य आदि स्वरूप-गुणोंसे सुशोभित हैं । उनके सौन्दर्य-लेशसे अनन्त अनङ्गोंके सौन्दर्यका विकास और विस्तार होता है । उनका मधुर माधुर्य-लेश ही विश्वब्रह्माण्डमें अनादिकालसे अनन्तकालतक नानाविध मधुर रूपों तथा भावोंमें विकीर्ण है । उनके सौशील्यकी छाया-कल्पनासे जगत्‌में सुशीलताका आदर्श स्थिर है और उनके सुगन्ध-लेश-स्पर्शसे ही पुष्पादिसे परम आनन्दवर्धक विविध विचित्र सौरभका प्रसार होता है । ये श्रीकृष्ण ही विभिन्न अवतारोंके अवतारी हैं । इसी प्रकार समस्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य और सौगन्ध्यकी जो अनन्त आकररूपा हैं, वे ही स्वरूपाशक्ति श्रीराधा हैं । ये प्रियतम श्रीकृष्णकी परम प्रेयसी और वरद वल्लभा हैं । विश्वब्रह्माण्डमें विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित तथा पूजित दुर्गा, काली आदि शक्तियाँ इन्हींकी अंश-स्वरूपा हैं । प्रेमानन्दमयी श्रीराधा और प्रेमानन्दरूप श्रीकृष्णके दिव्य युगल विग्रहोंमें भौतिकताका कल्पना-लेश तक नहीं है, तथापि श्रीराधासे ही श्रीकृष्णमें मधुर लीला-स्फूर्ति, लीला-कार्य-सम्पादन और लीला-सुखका उदय होता है । ये श्रीराधा सुरासुर-मानव, दिव्यलोकादिनिवासी सिद्ध, भगवद्धामनिवासी प्रेमीगण—सभीके परमाराध्य साक्षात् भगवान्‌की नित्य आराधना करती हुई, प्रियतम भगवान्‌को सुख-रसास्वादन कराती हुई उनमें उत्तरोत्तर रस-लुब्धताका उदय कराती हैं । ये नित्य ही दिव्य माधुर्य, ओज और प्रसादादि समस्त गुणोंसे सुसम्पन्न, सर्वदिव्याभूषणोंसे सुविभूषित, रस और भावोंकी उत्तरोत्तर वर्धमान उज्ज्वल निधि हैं । एक महात्माने कहा है—ये भगवत्-प्रेमोद्यानकी स्वर्ण-केतकी हैं, माधुर्य-सुधा-जलधरकी विद्युत्-मञ्जरी हैं, सौन्दर्य-निकषकी स्वर्ण-रेखा हैं, परमानन्द-ज्योति-रस-सुधामय शशधरकी दिव्य ज्योत्स्ना हैं, लावण्यसमुद्रकी सार-श्री हैं, वसन्त-गर्वकी हास्य-सुषमा हैं, सकल दिव्य ललित कलाओंकी अनन्त आकर हैं, समस्त सद्गुण-समूहरूप दिव्य मणियोंकी अनन्त असीम खान हैं । श्रीराधाजी गौरी होकर भी सहस्र गौरियों (पार्वती) की अपेक्षा अधिक उत्कर्षमयी अथ च श्यामा (सर्वश्रेष्ठ अनुपम रमणी) हैं । ये नित्य अनादि होकर भी नित्य किशोरी हैं, सुरूपा होकर भी प्रिय सखियोंके लिये असुरूपा (प्राणरूपा) हैं । ये स्वतन्त्र असमोर्ध्व माधुर्य और सौन्दर्यरूपा होकर भी प्रियतम श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्य-रसके आस्वादनके लिये नित्य पिपासु और लालायित रहती हैं ।

प्रेमविलास-रूप श्रीराधाकृष्णकी विलक्षण स्वरूपभूत लीला श्रीराधाकृष्णमें ही अभिव्यक्त रहती है । दोके समरुचि और समवासनावाले मन एकाकार हो जाते हैं । इस प्रेमविलासमें सम्पूर्ण तन्मयता होनेके कारण स्वरूपाशक्ति और स्वरूप-शक्तिमान् शृङ्गार-रसघन-मूर्ति श्रीकृष्ण और महाभावघन-मूर्ति श्रीराधाकी जो एकात्मता होती है, वह जीव-ब्रह्मके अभेद-ज्ञानके समान नहीं है । यहाँ एक आत्मा होनेपर भी दो रहते हैं, और ऐसी रसराज-महाभावकी पृथक्ता रहते हुए ही एकात्मता है । इसमें परस्पर विलास और रसास्वादन है, परंतु श्रीराधा-कृष्णकी तात्त्विक एकता अक्षुण्ण रहनेके साथ ही श्रीराधा

और श्रीकृष्णके प्रेमके सर्वातिशायी होने तथा परस्पर एक दूसरेके आश्रयालम्बन तथा विषयालम्बन बने एक दूसरेके सुखमें ही सुखी होनेकी समचित्त सत्ताके कारण वैसे भी कोई पृथक्ता नहीं रहती। इस प्रेमविलासमें भी विवर्त होता है—यहाँतक कि श्रीराधाको श्यामसुन्दरके संयोगमें भी वियोगका अनुभव होता है। उन्हें घरमें वन, वनमें घर; क्षणकालमें दीर्घकाल, दीर्घकालमें क्षणकाल; सुखमें दुःख, दुःखमें सुख; गरमीमें सरदी और सरदीमें गरमीका अनुभव होता है। कभी-कभी वे अपनेको 'कान्त' (श्रीकृष्ण) और श्रीकृष्णको 'कान्ता' (राधा) मानकर तदनुरूप व्यवहार करने लगती हैं। पर यह रज्जु-सर्पवाला भ्रमरूप विवर्त नहीं है। यह प्रेमराज्यकी एक विलक्षण वाञ्छनीय प्रेमवैचित्त्य स्थिति है।

इस मधुरतम प्रेमविलासमें कवियोंकी भाषामें 'नायक-नायिका' नाम आनेपर भी वस्तुतः श्रीराधा-कृष्ण दिव्य महाभाव और रसराज हैं। प्राकृत नायक सर्वथा नश्वर, कर्मपरवश, प्राकृत गुणोंसे आबद्ध और विषय-रसका लोभी होनेके कारण यथार्थ रससे सर्वथा शून्य है। भौतिक रसका वर्णन और विश्लेषण करनेवाले लौकिक रसज्ञ कविगण अपने लौकिक काव्यादिमें प्राकृत पाञ्चभौतिक नश्वर-शरीरधारी भोगविलासरत मोहावृत नायक-नायिकाओंके आधारपर जो रसनिष्पत्तिके दृष्टान्त देते हैं, वे सब उन कवियोंकी केवल वर्णनचातुरी मात्र हैं। विचार करके देखा जाय तो इससे विभावकी विरूपताके कारण यथार्थ रसके विपरीत घृणित रस—विरसका ही उदय होता है; क्योंकि कृमि, विष्ठा और भस्म ही जिस शरीरके परिणाम हैं, ऐसे प्राकृत शरीरवाले नायकोंका तो सब कुछ अनित्य, असुख, दुःख-योनि भोगोंपर ही अवलम्बित है। उनके द्वारा अखण्ड, अभेद्य, नित्य, निरवद्य भगवत्स्वरूप रसका यथार्थ आस्वादन नहीं होता और न उनसे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति ही होती है। वस्तुतः विनाशी भोगजगत् सर्वथा कुरस, विरस और अरस-रूप ही है। उसमें कुत्सित रस, विपरीत रस और भगवदानन्दस्वरूप रसका अभावरूप 'अरस' ही परिपूर्ण हैं। परमरसस्वरूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही रस-समुद्र रसशेखर हैं और श्रीराधामुख्या श्रीगोपसुन्दरियोंका विशुद्ध प्रेम ही रसोल्लास-की पराकाष्ठा है। यह परम मधुर-रस भोगोंमें तो है ही नहीं। स्वरूपगत तात्त्विक भेद न होनेपर भी निर्विशेष ब्रह्ममें भी यह रसमयता अनभिव्यक्त है और अन्तर्यामी परमात्मामें आंशिक विकास होनेपर भी उनके साक्षिरूपमें उदासीनताकी लीलामें प्रवृत्त रहनेके कारण वे भी इस रसके रसिक नहीं हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भगवद्-रूपोंमें भी रसकी अनभिव्यक्ति है। एकमात्र व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही पूर्ण पूर्णतम अखिलरसामृतमूर्ति हैं।

इसीसे इस रसकी साधना करनेवाले साधक तथा उसे प्राप्त सिद्ध भक्तगण मुक्तिकी कभी वाञ्छा तो करते ही नहीं, उसे देनेपर भी स्वीकार नहीं करते—'दीयमानं न गृह्णन्ति'। भगवान्‌की सेवा करनेपर उनके दिव्य लोकादिकी प्राप्तिरूप प्रेम-सेवोत्तरा मुक्तिका स्वीकार करना भी वे प्रेममें कलङ्क ही मानते हैं। वे कहते हैं कि इस पवित्र भगवत्-प्रेमरूप परमधर्ममें किसी प्रकारके भी मोक्षकी अभिसंधि रखना कैतव (कपट) है; क्योंकि मुक्तिमें भी 'स्व'को बन्धन-मुक्त करनेकी इच्छाके रूपमें स्व-सुख-वासना रहती है, जो इस पवित्र प्रेमके क्षेत्रसे सर्वथा बहिष्कृत है। इसीसे व्रजके लोग कहा करते हैं—'मुक्तिहू लौन-सी खारी लागै।' प्रेमी भक्तोंके वचन हैं—

निर्वाणनिम्बफलमेव रसानभिज्ञा-
श्चूषन्तु नामरसतत्त्वविदो वयं तु।
श्यामामृतं मदनमन्थरगोपरामा-
नेत्राञ्जलीचुलुकितावसितं पिबाम॥

'विशुद्ध दिव्य रससे अनभिज्ञ लोग निर्वाण (मोक्ष)-रूप निम्बफल चूसते रहें। प्रियतमके नाम-रस-तत्त्वको जाननेवाले हम लोग तो अप्राकृत मदनके आवेशमें मन्थर

गतिसे चलती हुई श्रीगोपाङ्गनाओंके नेत्ररूपी अञ्जलिके द्वारा पान करते समय गिरे हुए (उच्छिष्ट) श्यामामृतका ही पान करेंगे ।'

इस मधुर प्रेमराज्यमें ममता और रागका परित्याग नहीं है, वरं उनका सर्वतोभावेन प्रियतम श्रीनन्दनन्दनमें नियोजन है । प्रेमियोंमें जो त्याग-वैराग्य देखा जाता है, वास्तविक होनेपर भी है वह अद्वितीय विषया-लम्बन श्रीकृष्णमें परमानुरागका आनुषङ्गिक फल ही । उनका यह वैराग्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर स्वयं मुक्तिसुख प्राप्त करनेके लिये नहीं है, वह है केवल 'श्रीकृष्ण-सुखार्थ'—'श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ' । विषय-विराग वस्तुतः प्रेम-रस-कल्पवृक्षका मूल नहीं है । भगवच्चरणोंमें अनन्य अनुराग ही मूल है । इसलिये प्रेमी रसिकजन न तो स्व-सुखार्थ किसी वस्तु या स्थितिका स्वीकार करते हैं और न त्याग ही करते हैं । उनके लिये प्रेम-रसमें बाधक जो कुछ भी कुरस, विरस, अरस है, वह सहज ही हेय, घृणित, अनावश्यक, अरुचिकर तथा सर्वथा त्याज्य है ।

इसीसे इस प्रेम-राज्यमें शान्तरसका प्राधान्य तो है ही नहीं, उसका विशेष आदर भी नहीं है; क्योंकि यहाँ ममता, राग, विषय-संग्रह आदि सभी कुछ हैं । अवश्य ही वह सारी ममता, आसक्ति है—परम प्रियतम नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें ही और सारे विषय भी उन्हींके सेवनके लिये हैं । यहाँ श्रीकृष्णकी भगवत्ता या उनके परमेश्वरत्वकी कोई पूछ नहीं है । यहाँ तो बस, एक ही वस्तु है—'श्रीकृष्ण ही हमारे हैं, केवल वे ही हमारे हैं ।' यों सारी ममता उन्हींमें केन्द्रित है । यहाँ दास्य, सख्य, वात्सल्य उत्तरोत्तर विकसित रूपमें हैं; पर उनमें भी सारा ममत्व केवल श्रीकृष्णमें ही समर्पित है । मधुर-रसकी जीवन-प्रतिमा श्रीराधामुख्या गोपाङ्गनाओंमें तो इस भावका अतुलनीय असीम पूर्ण प्रकाश है ।

श्रीनारदपञ्चरात्रमें प्रेमका लक्षण बतलाया गया है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

'जिस भक्तिमें सम्पूर्ण सांसारिक प्राणि-पदार्थोंकी ममता दूर होकर एकमात्र श्रीभगवान्में ही अनन्य ममता हो जाती है, श्रीभीष्मपितामह, प्रह्लाद, उद्धव और देवर्षि नारद आदि महात्माओंने उसीको प्रेम कहा है ।'

तुलसीदासजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

'माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, तन, धन, मकान, सुहृद्, परिवार—सबकी ममताके धागोंको एक जगह बटोर लो और उसकी एक ही मजबूत डोरी बँट लो; फिर अनन्य ममतारूपी उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंके साथ बाँध दो ।' ममताकी इस अनन्यता और आत्यन्तिकतासे समृद्ध प्रीति ही प्रगाढ़ प्रेम है । ऐसे प्रेमका आविर्भाव होनेपर 'सर्वत्याग' अपने-आप ही हो जाता है और फिर प्रेमभङ्गके बड़े-से-बड़े प्रत्यक्ष हेतु भी उस प्रेमको तनिक भी क्षीण नहीं कर सकते ।

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

'ध्वंसका प्रत्यक्ष कारण उपस्थित होनेपर भी जिसका किसी प्रकार भी ध्वंस नहीं होता, ऐसे सुदृढ़ भावबन्धनको ही 'प्रेम' कहा जाता है ।'

यही विशुद्ध प्रेम स्व-सुख-वाञ्छा-कल्पना-रहित महाभावमयी श्रीराधा तथा उनकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका स्वरूप या स्वभाव है । इसीसे इस मधुर प्रेम-राज्यमें उनके द्वारा प्रियतम नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी मधुरतम कान्तभावसे सेवा-आराधना होती है । भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य-ज्ञान श्रीराधा एवं गोपसुन्दरियोंके परम मधुरातिमधुर देहातीत प्रेमको किसी कालमें किंचित् भी स्पर्श नहीं कर सकता । वे अपना सारा प्रेम, अपनी सारी ममता श्रीकृष्णको समर्पितकर

श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही श्रीकृष्णका सेवन करती हैं। न वे श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको जानती-मानती हैं, न उसे देखनेकी कभी उनमें इच्छा ही जागती है। उन्हें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यकी कोई स्मृति ही नहीं है। वरं श्रीकृष्णके ही चतुर्भुजरूपको देखकर वे डरकर संकोचमें पड़ जाती हैं और श्रीराधाजीके सामने तो श्रीकृष्ण इच्छा करनेपर भी अपने ऐश्वर्यका किंचित् भी प्रकाश नहीं रख सकते या यों कहना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण विशुद्ध माधुर्यभाव-मण्डित प्रेमके अधीन हैं। अतएव उनका ऐश्वर्य भी उस विशुद्ध प्रेमके ही अनुगत रहता है, उसकी सेवामें अपनेको लगाये रखना चाहता है। जहाँ विशुद्ध माधुर्यका ही विकास है, वहाँ भी—लीलारसकी पुष्टिके लिये तथा लीलारसास्वादनमें विशेषता लानेके लिये भगवान्की इच्छा-शक्तिका संकेत पाकर प्रायः उनको बिना ही जनाये ऐश्वर्यशक्ति प्रकट होकर माधुर्यकी सेवा कर जाती है। पूतना-तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुन-उद्धार, कालिय-दमन, गोवर्धनधारण, इन्द्रमान-भङ्ग, ब्रह्ममोह और रासलीलामें असंख्य श्रीकृष्णस्वरूपोंका प्राकट्य आदि उनके ऐश्वर्यकी ही लीलाएँ थीं। पर इससे व्रजके उस समयके लीलासङ्गियोंपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा, वे श्रीकृष्णमें किसी भी प्रकारके ऐश्वर्यकी आंशिकरूपसे भी विद्यमानता न मानकर उन्हें सतत अपना प्यारा-दुलारा व्रजेन्द्रनन्दन कन्हैया ही मानते रहे। प्रत्यक्ष ऐश्वर्यलीला देखकर भी शुद्ध माधुर्यवश उन्हें उसमें ऐश्वर्य नहीं दिखायी देता और जहाँ जरा भी ऐश्वर्यरूप दिखायी दिया, वहीं वे अपने ही प्रियतम श्यामसुन्दरको श्यामसुन्दर न मानकर अन्य कुछ मानने लगे। ऐसा ही एक लीलाप्रसङ्ग आता है—

एक बार वसन्तकालमें श्रीकृष्ण गोवर्धनपर समस्त श्रीगोपसुन्दरियोंके साथ रास-विहार कर रहे थे। इसी समय श्रीकृष्णके दिव्य मनमें गोपीसमूहकी मूल-स्वरूपा श्रीराधाजीके साथ एकान्त विहार करनेकी स्वरूपमयी स्फुरणा हुई। वे श्रीराधाको अपना अभिप्राय बताकर रासस्थलीसे सहसा अन्तर्धान हो गये और एक निभृत निकुञ्जमें जाकर राधाकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर गोपाङ्गनाओंने जब श्रीकृष्णको वहाँ नहीं देखा, तब वे आकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने चलीं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी निकुञ्जके अंदर जाकर दूरसे देखा तो एक कुञ्जमें उन्हें श्रीकृष्ण बैठे दिखायी दिये। इधर श्रीकृष्णने गोपियोंको देखा तब वे सोचने लगे कि 'मैं सबको छोड़कर रासस्थलीका परित्याग करके इस निभृत निकुञ्जमें अकेला क्यों बैठा हूँ—गोपियोंके इस प्रकार पूछनेपर मैं क्या उत्तर दूँगा?' और गोपाङ्गनाएँ इतनी निकट आ गयी थीं कि दूसरे कुञ्जमें जाकर छिपनेका भी उनके लिये अब अवकाश नहीं रह गया था। तब वे सोचने लगे कि 'यदि मेरे दो हाथ और होते तो मैं चतुर्भुज होकर अपनेको छिपा सकता, पर दो हाथ कहाँसे आयें?' इस प्रकार सोचनेका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि भगवान्में वहाँ स्वरूपभूत ऐश्वर्यका अभाव हो गया था। वहाँ भी पूर्ण ऐश्वर्य है और उसकी वहाँ अनुभूति भी हैं; किंतु विशेषता यही है कि वहाँ वह ऐश्वर्य माधुर्यकी आड़में छिपा है। प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन व्रजमें स्वयं तो प्रायः प्रत्यक्षरूपमें ऐश्वर्यको अङ्गीकार नहीं करते, पर उनकी ऐश्वर्यशक्ति ऐसे अवसरपर सेवाका लाभ उठानेसे नहीं चूकती। यहाँ भी वह भगवान्के संकल्पाभासका ही सुयोग पाकर क्रियाशील हो गयी और उसने उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णको शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज बना दिया। इसी समय गोपाङ्गनाएँ वहाँ आ पहुँचीं और आते ही वे कुञ्जमें अपने प्राणवल्लभ नवीन-नीरद-कान्ति द्विभुज मुरली-मनोहरको न देखकर हताश-उदास हो गयीं। उन्होंने चतुर्भुज नारायणको देखा, इससे तुरंत ही उनका उछलता हुआ कान्ताभाव संकुचित हो गया एवं वे हाथ जोड़कर श्रीनारायणकी स्तुति-विनती करके

श्रीकृष्णको खोजनेके लिये दूसरी निकुञ्जकी ओर चली गयीं। इसके पश्चात् पूर्वसंकेतानुसार श्रीराधाजी वहाँ पहुँचीं। श्रीकृष्ण निर्विघ्न-निर्बाध एकान्तमें राधाको देखकर प्रफुल्लित हो गये और 'मैं आज चार हाथोंसे श्रीराधाके साथ विनोद करूँगा'—यह विचार आनेपर उन्हें और भी आनन्द आया। परंतु वे यह देखकर आश्चर्य करने लगे कि श्रीराधा जितना ही समीप आ रही हैं, उतनी ही शीघ्रतासे दोनों हाथ विलुप्त हुए जा रहे हैं। उन्होंने चतुर्भुज बने रहनेका प्रचुर प्रयास भी किया, पर स्पष्टरूपसे श्रीराधाकी दृष्टि पड़नेसे पूर्व ही उनके दोनों हाथ अन्तर्धान हो गये और वे पूर्ववत् द्विभुज ही रह गये।

यह महाभावस्वरूपा श्रीराधाके अप्रतिम माधुर्यका ही एक विलक्षण प्रभाव है कि उसके सामने भगवान्‌की ऐश्वर्य-शक्ति किसी प्रकार भी अपनेको प्रकटरूपमें नहीं रख सकती। अन्यान्य गोपसुन्दरियोंका भाव भी शुद्ध माधुर्यमय ही था, तथापि श्रीराधाके भावकी अपेक्षा उसमें कुछ न्यूनता थी। इसीसे किसी अंशमें ऐश्वर्य-शक्ति उनके सामने अपनेको अभिव्यक्त रख सकी और श्रीकृष्णकी इच्छा-शक्तिका संकेत पाते ही उस सुयोगका लाभ उठानेकी इच्छासे उसने द्विभुज श्यामसुन्दरको चतुर्भुज नारायणके रूपमें प्रकट कर दिया। परंतु राधाका भाव अत्यन्त प्रबल और सर्वातिशायी होनेके कारण इतना प्रभावशाली था कि जैसे करोड़ों सूर्योंके उदय होनेपर सामान्य जुगनूका कहीं पता ही नहीं लगता, वैसे ही श्रीराधाके माधुर्यपूर्ण प्रेमके सामने तत्काल ही ऐश्वर्यको छिपना पड़ा। इस लीलाकी बात श्रीवृन्दादेवीने श्रीपौर्णमासीसे कही थी। इस प्रसङ्गका ललित माधवका एक श्लोक है—

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरूहपदवीसंचारिणः प्रक्रियाम्।
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन् भुजैर्जिष्णुभि-
र्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥

'गोपाङ्गनाओंके पशुपेन्द्रनन्दन (नन्दनन्दन)-निष्ठ और दुरूह मार्गपर चलनेवाले भावकी प्रक्रियाको (एकमात्र व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही गोपियोंके इस कान्ता-प्रेमके विषयालम्बन हैं—इस भावकी पद्धतिको) समझनेमें कौन कृती व्यक्ति समर्थ है? क्योंकि आश्चर्यका विषय है कि अपने द्विभुज रूपको छिपानेके लिये स्वयं श्रीनन्दनन्दन ही यदि अपने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी विजयशील चार भुजाओंके द्वारा सुशोभित अपनी ही विष्णुमूर्ति प्रकट करते हैं तो उससे भी गोपाङ्गनाओंके अनुरागका उल्लास—कान्ताभावका प्रेम संकुचित हो जाता है।'

किसी कल्पमें एक समय श्रीकृष्णके विरहसे अधीर होकर श्रीराधाजी यमुनामें कूद पड़ी थीं; यह देखकर विशाखादि सखियाँ भी यमुनामें कूद गयीं। तब सूर्यसुता यमुनाजी उनको सूर्यलोकमें ले जाकर सूर्यदेवताकी देख-रेखमें छोड़ आयीं। वहाँ भी श्रीकृष्णके वियोगमें राधाजी अत्यन्त व्याकुल हो गयीं। तब सूर्यपत्नी छायाने श्रीराधाको सान्त्वना प्राप्त करानेके लिये एक उपाय सोचा। छायादेवीने विचार किया कि 'सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती श्रीनारायण स्वरूपतः श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। अतः सूर्यमण्डल-स्थित नारायण ही श्रीराधाके प्रियतम हैं, उनसे मिलते ही श्रीराधाको सान्त्वना प्राप्त हो जायगी।' ऐसा सोचकर उन्होंने राधासे कहा—'राधे! तुम व्याकुल मत होओ, तुम्हारे प्राणवल्लभ इस सूर्यमण्डलमें ही स्थित हैं।' छायादेवीकी बात सुनकर राधा-सखी विशाखाने छायासे जो कुछ कहा था, वही उपर्युक्त श्लोकमें है। विशाखाने इससे छायादेवीको यह समझाया कि 'तुम समझती हो कि विष्णुमूर्तिके दर्शन करते ही श्रीराधाकी विरह-व्यथा शान्त हो जायगी; पर यह तुम्हारी भ्रान्त-धारणा है। इस ऐश्वर्यमयी विष्णुमूर्तिकी बात तो दूर, स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भी कौतुकवश अपने व्रजके सारे माधुर्यको

ज्यों-का-त्यों बनाये हुए ही यदि चतुर्भुज रूप धारण कर लेते हैं तो उस पूर्ण-माधुर्यमय चतुर्भुज रूपको देखकर ही श्रीराधाका कान्ताभाव संकुचित हो जाता है। वरं राधाके सामने ऐश्वर्यप्रधान चतुर्भुज रूप ठहर ही नहीं सकता। वस्तुतः वे वेणुकरधारी गोपवेश नवकिशोर नटवर श्यामसुन्दरके सिवा अन्य किसी रूपको देखना जानतीं ही नहीं, तब विष्णुस्वरूपकी क्या बात है।'

महाभावरूपा श्रीराधा प्रेममयी हैं, श्रीकृष्ण-प्रेममें वे अपनेको सदा भूली रहती हैं। वे अपने तन, मन, वचन, प्राण, आत्मा—सभीसे मुरलीमनोहर व्रजेन्द्रनन्दन एकमात्र परम प्रियतम नव-नीरद-नील द्विभुज श्रीश्यामसुन्दरका ही नित्य सेवन करती हैं। उन्हींमें उनका पूर्णानुराग है और वे अपनेको एक ओर परम दीन-हीन मानती हुई भी दूसरी ओर प्रियतम श्रीकृष्ण-धनका धनी मानती हैं। उनके भाव-समुद्रमें नित्य-निरन्तर नयी-नयी रसमयी तरङ्गें उठा करती हैं। प्रेम-सरिताके संगम और विरह—सम्भोग और विप्रलम्भ—ये दो तट हैं। यद्यपि श्रीराधा-माधवकी स्वरूपतः नित्य एकता है, तथापि मिलनकी इच्छा स्वाभाविक रहती है और मिलनमें महान् आनन्दकी अनुभूति भी होती है। किंतु श्रीकृष्ण-सुखेच्छामयी श्रीराधा कहती हैं—

चाहता मन है नित संयोग। इसीसे लगता दुखद वियोग॥
नहीं पर तनिक स्वसुख की चाह। इसीसे मुझे न कुछ परवाह॥
मिलन हो या हो नित्य विछोह। किसी भी स्थितिमें रहा न मोह॥
रही बस, एक लालसा जाग। बढ़े नित नव तुममें अनुराग॥
दुःख गुरु हो या सुख सुविशाल। तुम्हारे सुखसे रहूँ निहाल॥
रहो तुम सदा परम सुखरूप। मुझे सम है छाया या धूप॥
नरकका डर न स्वर्गकी चाह। न जाती कभी मुक्तिकी राह॥
प्रेम-बन्धन नित रहे अटूट। भले संकटसे मिले न छूट॥
नहीं प्रतिकूल, न कुछ अनुकूल। तुम्हारा सुख ही सब सुख मूल॥
तुम्हें यदि सुख हो, हे हृदयेश!। विरह-दुख देगा दुःख न लेश॥
तुम्हारा वदन प्रफुल्लित देख। दुःखकी नहीं रहेगी रेख॥
करो तुम अपने मनकी, नाथ। छोड़ दो, चाहे रक्खो साथ॥
लगेगा शीतल दारुण दाह। नहीं निकलेगी मुखसे आह॥
एक अनुभवयुत दृढ़ विश्वास। सदा तुम रहते मेरे पास॥
दिखाई पड़ो, रहो या गुप्त। कभी होते न पाससे लुप्त॥
छा रही सुखकी मुख मुसकान। यही बस, मेरे सुख की खान॥
देख तुम रहे सभी सब काल। सुखी मैं हूँ कि नहीं, हर हाल॥

एक बार उन्होंने अपनी एक अन्तरङ्ग सखीसे अपनी स्वरूपस्थिति बतलाते हुए कहा—

दूर रहें या पास, नित्य ही रहते एक साथ निर्बाध।
लहराता अनन्त सागर है, भरा प्रेम-रस-अमृत अगाध॥
उठती रहतीं विविध भाँतिकी ऊपर लहरें क्षुद्र महान।
लोग देखकर उन्हें लगाते दूर-पासका मन अनुमान॥
हम दोनों नित एकरूप हैं, एक तत्त्व हैं, नित संयोग—
नित्य मिलन रहता अटूट, हो चाहे विप्रलम्भ-सम्भोग॥
नित्य मिलन, नित रस-आस्वादन, नित्य अतृप्ति, नित्य नव चाह।
मिलन विरहमय, विरह मिलनमय, लीलोदधि विचित्र अवगाह॥
मोद-विषाद, हास्य, मृदु, रोदन, निपट निराशा अति उत्साह।
परम मधुरतम, परम दिव्य, शुचि-लीलारस-माधुरी-प्रवाह॥

जैसे परमानन्द-महार्णव भगवान् युगपत् नित्यानन्त-अचिन्त्यानिर्वचनीय-विरुद्ध-गुण-धर्माश्रय हैं, वैसे ही उनकी शक्ति श्रीराधाजी एवं इन दोनोंका मधुर 'लीलाप्रेम-विलास' भी नित्य अचिन्त्य-अनिर्वचनीय है।

श्रीराधा-माधवके इस मधुर लीला-प्रेम-विलासके परम दिव्य साम्राज्यमें पहुँचना और दिव्य प्रेमरसके द्वारा श्रीराधा-माधवके चरणोंका नित्य प्रक्षालन-पूजन करना ही जीवका पञ्चम पुरुषार्थ है। यही परम साधना है, यही परम प्रेम है और यही परम साध्य है—'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

इस परमानन्दमय परमरसमय दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-समुद्रमें अवगाहन करनेके लिये आवश्यकता है स्व-सुख-वाञ्छा-कल्पनासे सर्वथा रहित श्रीराधा-माधव-सुख-सेवा-स्वरूपिणी मञ्जरियोंके परमत्यागका आदर्श भाव ग्रहण करके उनका अनुकरण करते हुए अनन्य साधना करनेकी। इन मञ्जरियोंकी कृपा-प्राप्तिके लिये सारे

संदेह-भ्रमोंसे दूर रहकर श्रीराधा-माधवको प्रसन्न करनेवाले नाम-लीला-गुण-श्रवण-कीर्तन करते हुए कातरभावसे श्रीराधारानीसे प्रार्थना करनी चाहिये। श्रीराधा रानीकी कृपासे उनके चरणोंका प्रेम प्राप्त होना सहज है।

श्रीराधा रानीके तत्त्व, स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें यहाँ आज (दिनमें और अभी) जो कुछ कहा गया है, इसमें शास्त्र तथा प्रातःस्मरणीय प्रेमी महात्माओंके वचनोंका तो पूर्णरूपसे आश्रय लिया ही गया है; पर यह कोई साहित्यिक आलोचना नहीं है, न निरी श्रद्धा-भावुकता ही है। कुछ ऐसे प्रत्यक्ष-प्राप्त अनुभव भी इसके साथ हैं, जिनका युक्तियुक्त खण्डन किये जानेपर भी, परम सत्य होनेके कारण, जो नित्य अक्षुण्ण हैं और रहेंगे। अन्तमें श्रीराधा रानीके श्रीचरणोंमें हम प्रार्थना करें—

श्रीराधारानी-चरन बंदौं बारंबार।
जिनके कृपा-कटाच्छ तें रीझैं नंदकुमार॥
जिनके पद-रज-परस तें स्याम होयँ बेभान।
बंदौं तिन पद-रज-कननि मधुर रसनि के खान॥
जिनके दरसन हेतु नित बिकल रहत घनस्याम।
तिन चरननि में बसै मन मेरौ आठौं जाम॥
जिन पद-पंकज पै मधुप मोहन-दृग मँडरात।
तिनकी नित झाँकी करन मेरौ मन ललचात॥
'रा' अच्छरके सुनत ही मोहन होत बिभोर।
बसै निरंतर नाम सो 'राधा' नित मन मोर॥

बोलो श्रीश्रीवृषभानुनन्दिनी कीर्तिदाकुमारीकी जय!

पण्डित और मूर्ख

(लेखक—आचार्य 'प्रवासी' एम्० ए०)

जो दयाशील, क्षमाशील, उदार और निष्कपट हैं, वे धरतीके देवता हैं। उनका स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं, इसी धरापर है। वे पण्डित हैं। इसके विपरीत जो काल्पनिक स्वर्गके लिये पापकी कमाईका दान करते हैं, दिखानेके लिये दया करते हैं, क्षमा उन्हींको करते हैं जो अपने हैं और अपने कपट-व्यवहारपर परदा डालनेके लिये उदारताका बाना धारण करते हैं, वे इस धरतीपर नरककी सृष्टि करते हैं; वे नारकीय मूर्ख हैं।

अन्तःकरणकी वाणी कभी धोखा नहीं देती, वह प्राणीको सदैव 'सत्'की ही प्रेरणा देती है। जो इस ईश्वरीय प्रेरणाको ही अपने जीवनके समस्त कर्मों और व्यवहारोंकी सूत्रधारिणी मानता है, वह पण्डित है; किंतु जो जगत्की विषाक्त समृद्धि और झूठे यश-सम्मानके फेरमें पड़कर अपने अन्तरकी सच्ची और निष्कपट प्रेरणाकी अवहेलना करता है—उसे दबाता है, वह अन्ततः दुःख उठाता है, प्रतारणाओंका शिकार बनता है और भ्रष्ट होता है। वह निस्संदेह मूर्ख है।

जो अग्निके समान मनके कलुषको जलाकर उसे (मनको) तेजोमय बना लेता है; दिव्य और भव्य बना लेता है, वह मनस्वी पुरुष पण्डित है; किंतु जो जीवनभर मनमें वासनाओंके कूड़ेका संग्रह करता है, जिसके अन्तस्में कभी ज्ञानकी एक चिनगारीतक नहीं पड़ी, वह कूड़मगज अवश्य मूर्ख है!

जो साहसी है, उसे सम्बलकी आवश्यकता नहीं, वह अपने अदम्य उत्साह और अप्रतिम तेज (शौर्य) से अनायास ही सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करता जाता है। वह पण्डित है। किंतु जो सफलताके लिये परिस्थितियोंकी अनुकूलताकी प्रतीक्षा करता है, साधन और सम्बलके लिये चिन्तित तो रहता है, पर क्रियाशील नहीं, वह मूर्ख है।

'सफलताएँ मिलतीं नहीं, प्राप्त की जाती हैं' जो इस रहस्यको आत्मसात् कर लेता है, उसे जीवन-रणमें कभी पीछे नहीं हटना पड़ता। वह अदम्य उत्साह और तडित्-गतिसे प्रगतिकी ओर गतिशील (उन्मुख) रहता है। वह पण्डित है। किंतु जो अपनी सफलताके लिये दूसरोंपर आश्रित रहता है उसे सफलताके स्वप्नमात्रसे संतोष करना पड़ता है, सफलता जिसके लिये केवल मृगमरीचिका बनी रहती है, ऐसा परमुखापेक्षी मूर्ख है।

जो 'सत्'का प्रतीकार असत्से नहीं करता, त्राता

और दाताको ईश्वरके तुल्य मानता है, कृतज्ञताज्ञापनके लिये जिसकी वाणी ही नहीं, हृदय भी उमड़ पड़ना चाहता है, अपने हितैषीके लिये जिसका रोम-रोम कृतज्ञ है, वह पण्डित है; किंतु जो अकृतज्ञ अपने प्रति किये गये उपकारको भूल जाता है, जिसकी वाणी कृतज्ञताज्ञापनके दो शब्दोंके लिये कुण्ठित है, जिसका हृदय उपकारीकी परिस्थितियोंको उपकारका क्षेत्र देता, वह पशुसे भी हीन और मूर्ख है।

जो दुष्टोंकी दुष्टताका प्रतीकार न करके उसे धैर्यपूर्वक सहन करता है, वह बहुत शीघ्र उस (दुष्ट) के हृदयगत कलुषको धो डालता है। पशुओं (दुष्टों) को मनुष्य बनानेवाला ऐसा क्षमाशील सत्पुरुष (संत) पण्डित है, किंतु जो कुत्तेके काट लेनेपर उसे काटने-(मारने) दौड़ता है, वह किसी प्रकार भी उस (दुष्ट)से कम नहीं है; वह उद्विग्नमना अविवेकी पुरुष मूर्ख है।

जो अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़ता है, अपूर्णतामें पूर्णता लाना चाहता है, वह पण्डित है; किंतु जो अन्धकारके मायावी वातावरणको ही वरदान समझकर पापोंमें लिप्त रहता है, जीवनके महत्त्वको भुलाकर उसके निरन्तर क्षयको नहीं देखता, वह मूर्ख है।

जो व्यक्ति अपने व्यवहारसे जीवनके उच्चादर्शोंको प्रतिफलित करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष पण्डित है; किंतु जो केवल खानेके लिये जीता है, वह पशु निरा मूर्ख है।

जिसके नेत्र नहीं हैं, फिर भी जो दयार्द्र है, आँखोंके न रहनेपर भी दूसरोंकी वेदनाको अपनी संवेदन-शक्तिसे पहचान लेता है, वह अन्तर्द्रष्टा पण्डित है; किंतु आँखोंके सामने अत्याचार होते, किसीको पीड़ित या प्रताड़ित होते देखकर जिसकी आँखें शीतल होती हैं, वह निर्दयी दुष्ट मूर्ख है।

जो अपने दोषोंको सहजभावसे स्वीकार करता है, उन्हें दूर करनेके लिये निरन्तर जी-तोड़ प्रयत्न करता है, वह निर्दोष बनकर रहता है; ऐसा व्यक्ति पण्डित है। किंतु जो अपने दोषोंको छिपाता है, उसमें अनेक दोष (झूठ-कपट) उत्पन्न हो जाते हैं, उसके हृदय और मनमें पापोंकी बाढ़-सी आ जाती है; ऐसा अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख है।

जिसका लक्ष्य परमार्थ है, उसका स्वार्थ स्वतः ही पूरा हो जाता है; उसकी दृष्टिकी व्यापकतामें सभी कुछ (अपनत्व-परत्व) परिव्याप्त हो रहता है। अतः वह पण्डित है। किंतु जो मात्र स्वार्थसिद्धिके लिये कृतसंकल्प है, उसकी चारों (हृदयकी और बाहरकी) आँखें फूट गयी हैं; वह 'राम' से ही नहीं, 'माया'से भी वञ्चित रह जाता है। अतः वह मूर्ख है।

जो जीवमात्रके हितकी कामना करता है, हित-साधनका संकल्प करता है, हितकर कार्य करता है, हितपूर्ण व्यवहार करता है, वह प्रियदर्शी पण्डित है; किंतु जो इतर प्राणियोंको संदेहकी दृष्टिसे देखता है, उनसे ईर्ष्या करता है, परस्पर घृणा फैलानेवाला व्यवहार करता है, वह मूर्ख है।

जो रूपका नहीं, गुणोंका ग्राहक है, वह निश्चित ही पण्डित है; किंतु जो रूपकी ज्वालाके तेजको तो देखता है पर उसकी दाहकताको नहीं, वह रूपान्ध अपंग हो जाता है, क्षयग्रस्त होता है और अन्ततः अपनी ही करनीसे नष्ट हो जाता है। अतः वह मूर्ख है।

जो कुरूप होते हुए भी स्वच्छ हृदयवाला है, वह पण्डित है; किंतु जो रूपवान् होकर भी दिलका काला है, वह अपने अन्तस्की विष-वल्लरीसे दूसरोंके साथ अपनेको भी लपेटकर नष्ट हो जाता है; अतः वह मूर्ख है।

जो शरीरको आत्मोन्नतिका साधनमात्र मानकर आत्मकल्याण और विश्वकल्याणके लिये ही शरीर और उसकी क्षमता-शक्तियोंका उपयोग करता है, वह पण्डित है; किंतु जो साधनको साध्य बनानेकी कुचेष्टा करता है, शारीरिक सुखोपभोगको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानकर अनेक उचितानुचित कार्य करता है, वह पामर (विषयी) अवश्य मूर्ख है।

जो अपने स्वभावको परिस्थितियों एवं पड़ोसियोंके अनुसार ढाल लेता है, वह पण्डित है; किंतु जो स्वभावकी स्वाभाविकताके नामपर हठ और दुराग्रहको पालता रहता है वह पशु मूर्ख है।

जो आदर्शोंका निर्माण केवल दिखानेके लिये नहीं, उन्हें जीवनमें उतारनेके लिये करता है, वह पण्डित है; किंतु जो आदर्शोंके रुपहली पर्देकी झिलमिलसे दूसरोंको भुलावेमें रखकर अपने क्षुद्र स्वार्थोंकी ही पूर्ति करता है, वह वञ्चक मूर्ख है।

जो कूदनेसे पहले (सब कार्यका श्रीगणेश करनेसे पूर्व) शक्तिको तौलता है, दूरीका विचार करता है, लक्ष्यपर दृष्टि गड़ाता है, साहसपूर्वक अपनेको उसके लिये तैयार करता है,

वह दूरदर्शी, संयमी और ज्ञानी पुरुष निश्चय ही सफलता प्राप्त करता है; वह पण्डित है। किंतु जो अपनी क्षमताओंसे अनभिज्ञ रहकर कोरी डींग मारता है, अविवेकपूर्ण निश्चय करता है, बिना सोचे-विचारे कुछ भी कर बैठता है, वह लक्ष्य-भ्रष्ट पत्तोंकी भाँति हवा (परिस्थितियों)के झोंकोंके अनगिनत थपेड़े खाता है, जहाँ-तहाँ मारा-मारा फिरता है और दुर्भाग्यका शिकार होता है; वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो उच्चमनाओंद्वारा संस्थापित आदर्शोंको जीवनमें ढालनेके लिये कृतसंकल्प है, वह पण्डित है; किंतु जो आदर्शकी बढ़ी-चढ़ी बातें करता है; किंतु उन्हें अपनानेमें प्रमाद करता है, दिखावा ही जिसकी मात्र पूँजी है, उसका आडम्बर धुएँके मायावी वातावरणकी तरह क्षणस्थायी होता है। उसके पाखण्ड कोढ़की तरह उभरकर उसकी ही दुरवस्था नहीं करते, दूसरोंमें भी घृणाका संचरण करने लगते हैं। ऐसा मायावी पामर निस्संदेह मूर्ख है।

जो नामके लिये नहीं बल्कि अन्तःप्रेरणासे प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, वह पण्डित है; किंतु जो कामका नहीं नाम (यश) का भूखा है, 'राम' का नहीं, 'चाम' का ग्राहक है, वह पापी और मूर्ख है।

जो आत्मान्वेषण और आत्मशोधमें कभी अतत्परता नहीं दिखाता, आलस्य नहीं करता, आत्मतोष ही जिसकी सम्पत्ति है, आत्मोन्नति ही जिसका साध्य है, वह साधु (संत) पण्डित है; किंतु जो पारिवारिक-सामाजिक कलहमें दिन-रात लगा रहता है, केवल स्वार्थसे संचालित है, वह मात्र पाप बटोरता है। वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो आशा-निराशासे ऊपर उठकर केवल प्रयत्नमें विश्वास रखता है, वह निराशाको आशामें, हानिको लाभमें, अशुभको शुभमें बदल देता है। वह भाग्यतकको बदल सकनेकी सामर्थ्य अपनेमें रखनेवाला पण्डित है। किंतु जो आशा-निराशाको विधिका खेल समझकर शतरंजके गोटकी तरह निर्जीव बना अपनेको दूसरोंके हाथोंका खिलौना बननेके लिये छोड़ देता है, आशा-निराशा उसे यत्र-तत्र नचाती हैं। जीवनके रहस्य (संघर्ष) को न समझनेवाला वह जीव निश्चित ही मूर्ख है।

दुःखकी काली डरावनी और दुःखद रात्रिके बाद सुखका उज्ज्वल और प्रेरक प्रभात आता है। जो इस सत्यको जानकर निर्विकारभावसे कर्तव्यरत रहता हुआ अपनेको व्यस्त और क्रियारत रखता है, वह पण्डित है; किंतु जो दुःखको देवका अभिशाप समझकर हाय-हाय करता है, वह मतिहीन अपने दुःखको द्विगुणित कर देता है। जिसे सुखके नवल प्रभातमें विश्वास नहीं, वह दुःखकी काली निशामें ही यमका ग्रास बन जाता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः मूर्ख ही है।

जो लोक-कल्याणकी भावनासे मङ्गल-पथपर आगे बढ़ता जाता है, वह दूसरोंके साथ अपना भी कल्याण करता है। वह सबका शुभेच्छु पण्डित है। किंतु जिसे शुभाशुभ, उचितानुचितका ज्ञान नहीं, क्षुद्र वासनाओंके उज्ज्वल किंतु विषाक्त फलको खाना ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, वह असमय ही मृत्युका आहार बनता है; अतः वह मूर्ख है।

जो इतना ही (पेटभर) संचय करता है, जिससे उसके जीवनकी गाड़ी चलती रहे, वह पण्डित है; किंतु जो आवश्यकतासे अधिक (पेटी भर) का संग्रह करता है, वह दूसरोंके हाथका ग्रास छीनता है। उस पापीका जीवन उसके लिये ही भार हो जाता है, वह सामाजिक अपराधी और मूर्ख है।

जो दूसरोंकी परवशताको प्रसन्नतामें बदलनेके लिये अपना सब कुछ दे देने तकको सदैव प्रस्तुत रहता है, उसने परमात्माको पा लिया है; वह पण्डित है। किंतु जो दूसरोंकी विवशताका लाभ उठाकर अपने ही स्वार्थकी पूर्ति करता है, अपना ही पेट पालता है, वह दूसरोंपर तो अत्याचार करता ही है, स्वयं भी उसका शिकार हुए बिना नहीं रहता; अन्ततः उसकी भी दुर्दशा ही होती है। वह इस दुनियासे ले क्या जाता है। अतः वह अविवेकी मूर्ख ही है।

मेरे कारण किसीको पीड़ा या कष्ट न हो, ऐसा जो अपना जीवन और व्यवहार बना लेता है, वह पण्डित है; किंतु जिसके कारण सब दुखी हो जाते हैं, जो ईर्ष्यालु और क्षुद्र-हृदय है, सबकी दुर्भावनाओंका केन्द्र वह अभिशप्त पुरुष सबकी आँखोंका काँटा बनकर जीता है। उसे कोई चाहनेवाला नहीं। जिसकी छायातकसे सब डरें, ऐसा व्यक्ति सचमुच मूर्ख है।

जो जीवमात्रपर दया करता है, सबका विश्वास करता है, सबका हित करता है; वह समद्रष्टा ऋषि पण्डित है; किंतु जो पद-पदपर क्रूरताका व्यवहार करता है, हर व्यक्तिपर संदेह करता है और सबका अहित सोचता है, वह दूसरोंका हृदय नहीं जीत सकता; वह मूर्ख है।

जो अपने हृदयमें उमड़नेवाले स्नेहके निर्बाध स्रोतमें प्राणिमात्रको आकण्ठ निमग्न देखता और कर देता है, वह सर्वहितचिन्तक पण्डित है; किंतु जो इन्द्रियोपभोगकी लालसासे प्राणियोंका जीवनतक ले लेता है, वह क्रूर मूर्ख है।

जो दूसरोंको संकटमें देखकर हँसता नहीं, वरं तत्परतापूर्वक सहायताका हाथ बढ़ाता है, सत्परामर्श देता है, वह पण्डित है; किंतु जो संकटापन्न व्यक्तिको देख प्रसन्न होता है, अनेक जटिल परिस्थितियोंको उत्पन्न कर उसे और भी जकड़ देनेकी चेष्टा करता है, सहानुभूतिके स्थानपर व्यंगका आश्रय ले जलेपर और भी नमक छिड़कता है, वह मानवताका शत्रु पिशाच है, मूर्ख है।

जो भँवरमें पड़े मनुष्यको उबारनेके लिये अपने प्राणोंकी चिन्ता न करके स्वयं उस भँवरमें कूद पड़ता है। विवेक, साहस और शक्तिसे उस आसन्न विपत्तिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा करता है, वह धीर, वीर, दयाका सागर उद्धारक पण्डित है; किंतु जो ऐसी परिस्थितिमें शक्ति रखते हुए भी कापुरुष बन टुकुर-टुकुर देखा करता है, वह निर्दयी पुरुष मूर्ख है।

जो अपनी पीड़ाकी अनुभूतिसे दूसरेकी वेदनाका अनुमान कर पीड़ित होता है, उसे दूर करनेके लिये यथासाध्य चेष्टा करता है, वह पीड़ितकी पीड़ाका हरण ही नहीं करता, उसका हृदय भी जीत लेता है; अतः वह पण्डित है; किंतु अपनी पीड़ाको ही कष्टदायिनी और दूसरोंकी पीड़ाको नगण्य समझकर जो किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता है, वह नितान्त मूर्ख है।

मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान

(लेखक—श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०)

हिंदुओंके पूर्व-ऐतिहासिक सामाजिक जीवनकी झाँकियाँ महाभारत, रामायणमें मिलती हैं; किंतु उनमें कविताकी भाषा और कहीं-कहीं अतिशयोक्ति अलंकार होनेसे आजकल उसे ऐतिहासिक सामग्रीकी कोटिमें रखनेमें कुछ लोग हिचकते हैं। किंतु धर्मशास्त्रकारोंने तो अपने समयके समाजकी आवश्यकताओंको देखते हुए अपने समयके समाज और आनेवाली पीढ़ियोंको मर्यादित रखने और उसकी बुराइयोंको रोकनेके लिये नियम बनाये। अतः तत्कालीन सामाजिक स्थितिको जाननेके लिये इनमें अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। स्मृतियोंके टीकाकारोंने भाष्य करते हुए अपने समयकी सामाजिक माँग देखकर टीकाओंमें मूल रचनासे सर्वथा कुछ नया दृष्टिकोण रखते हुए नया विचार किया है। जैसे मनुने अपुत्र मरनेवालेकी सम्पत्तिमें पत्नी या लड़कीको हक नहीं दिया है; किंतु टीकाकार कुल्लूक भट्टने अपुत्रकका अर्थ यह लगाया है 'वह व्यक्ति जो मरते समय न पुत्र, न लड़की, न स्त्री छोड़ गया हो।' इस तरह कई टीकाकारोंने सर्वथा नवीन सुझाव दिये हैं। यद्यपि मनुस्मृतिके अलावा और भी कई स्मृतियाँ हैं, जो सामाजिक नियमकी रचनामें महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, फिर भी मनुका स्थान सर्वोपरि है। मनुके बाद ही याज्ञवल्क्यका स्थान है। ऐसे स्मृतिकारोंकी दृष्टिमें नारीका समाजमें क्या स्थान था, यह जानना बड़ा लाभप्रद होगा—विशेषकर इसलिये कि उनके एक श्लोकके एक चरणसे (न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति), आधुनिक शिक्षित स्त्री-समाज अत्यधिक उद्वेलित है। परंतु इन आलोचकोंने मनुस्मृतिमें यत्र-तत्र बिखरे हुए नारीके सम्मानमें कहे हुए वाक्योंको एकत्रकर सम्भवतः नहीं पढ़ा है। नहीं तो, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' ऐसे वचनोंके उपस्थित रहते मनुको नारीके विषयमें हेय दृष्टि रखनेवाला कभी नहीं समझते।

जैसा कि विख्यात विधिज्ञ सर हेनरी मैन तथा महान् विचारक स्टुअर्ट मिलका कहना है—'किसी समाज या कालकी सभ्यताका सबसे उत्तम मापदण्ड उस समाज और समयमें स्त्रियोंकी उच्च या नीची स्थिति है; जिस परिमाणमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता और समताका अधिकार दिया है समाजने, वह उतना ही प्रगतिशील समझा जायगा।'* यद्यपि यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं है, तथापि इस दृष्टिसे भी हमें अपने शास्त्रकारोंपर रोष करनेका कोई कारण नहीं है। आगे चलकर हम यह भी दिखायेंगे कि मनुके बाद आनेवाले याज्ञवल्क्य ऋषिने स्त्रियोंके बारेमें क्या मत व्यक्त किया था।

मनुने समाजमें स्त्रीको बड़े सम्मानका स्थान दिया है और ऐसा कार्य सौंपा है, जो उसकी प्रकृति, शारीरिक बनावट और गुणोंके सर्वथा अनुकूल है।

---

* **Early History of Institutions by Sir Henry Mann** तथा **Subjection of Women by Stuart Mill page 48.**

वह दूरदर्शी, संयमी और ज्ञानी पुरुष निश्चय ही सफलता प्राप्त करता है; वह पण्डित है। किंतु जो अपनी क्षमताओंसे अनभिज्ञ रहकर कोरी डींग मारता है, अविवेकपूर्ण निश्चय करता है, बिना सोचे-विचारे कुछ भी कर बैठता है, वह लक्ष्य-भ्रष्ट पत्तोंकी भाँति हवा (परिस्थितियों)के झोंकोंके अनगिनत थपेड़े खाता है, जहाँ-तहाँ मारा-मारा फिरता है और दुर्भाग्यका शिकार होता है; वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो उच्चमनाओंद्वारा संस्थापित आदर्शोंको जीवनमें ढालनेके लिये कृतसंकल्प है, वह पण्डित है; किंतु जो आदर्शकी बढ़ी-चढ़ी बातें करता है; किंतु उन्हें अपनानेमें प्रमाद करता है, दिखावा ही जिसकी मात्र पूँजी है, उसका आडम्बर धुएँके मायावी वातावरणकी तरह क्षणस्थायी होता है। उसके पाखण्ड कोढ़की तरह उभरकर उसकी ही दुरवस्था नहीं करते, दूसरोंमें भी घृणाका संचरण करने लगते हैं। ऐसा मायावी पामर निस्संदेह मूर्ख है।

जो नामके लिये नहीं बल्कि अन्तःप्रेरणासे प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, वह पण्डित है; किंतु जो कामका नहीं नाम (यश) का भूखा है, 'राम' का नहीं, 'चाम' का ग्राहक है, वह पापी और मूर्ख है।

जो आत्मान्वेषण और आत्मशोधमें कभी अतत्परता नहीं दिखाता; आलस्य नहीं करता; आत्मतोष ही जिसकी सम्पत्ति है, आत्मोन्नति ही जिसका साध्य है, वह साधु (संत) पण्डित है; किंतु जो पारिवारिक-सामाजिक कलहमें दिन-रात लगा रहता है, केवल स्वार्थसे संचालित है, वह मात्र पाप बटोरता है। वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो आशा-निराशासे ऊपर उठकर केवल प्रयत्नमें विश्वास रखता है, वह निराशाको आशामें, हानिको लाभमें, अशुभको शुभमें बदल देता है। वह भाग्यतकको बदल सकनेकी सामर्थ्य अपनेमें रखनेवाला पण्डित है। किंतु जो आशा-निराशाको विधिका खेल समझकर शतरंजके गोटकी तरह निर्जीव बना अपनेको दूसरोंके हाथोंका खिलौना बननेके लिये छोड़ देता है, आशा-निराशा उसे यत्र-तत्र नचाती हैं। जीवनके रहस्य (संघर्ष) को न समझनेवाला वह जीव निश्चित ही मूर्ख है।

दुःखकी काली डरावनी और दुःखद रात्रिके बाद सुखका उज्ज्वल और प्रेरक प्रभात आता है। जो इस सत्यको जानकर निर्विकारभावसे कर्तव्यरत रहता हुआ अपनेको व्यस्त और क्रियारत रखता है, वह पण्डित है; किंतु जो दुःखको दैवका अभिशाप समझकर हाय-हाय करता है, वह मतिहीन अपने दुःखको द्विगुणित कर देता है। जिसे सुखके नवल प्रभातमें विश्वास नहीं, वह दुःखकी काली निशामें ही यमका ग्रास बन जाता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः मूर्ख ही है।

जो लोक-कल्याणकी भावनासे मङ्गल-पथपर आगे बढ़ता जाता है, वह दूसरोंके साथ अपना भी कल्याण करता है। वह सबका शुभेच्छु पण्डित है। किंतु जिसे शुभाशुभ, उचितानुचितका ज्ञान नहीं, क्षुद्र वासनाओंके उज्ज्वल किंतु विषाक्त फलको खाना ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, वह असमय ही मृत्युका आहार बनता है; अतः वह मूर्ख है।

जो इतना ही (पेटभर) संचय करता है, जिससे उसके जीवनकी गाड़ी चलती रहे, वह पण्डित है; किंतु जो आवश्यकतासे अधिक (पेटी भर) का संग्रह करता है, वह दूसरोंके हाथका ग्रास छीनता है। उस पापीका जीवन उसके लिये ही भार हो जाता है, वह सामाजिक अपराधी और मूर्ख है।

जो दूसरोंकी परवशताको प्रसन्नतामें बदलनेके लिये अपना सब कुछ दे देने तकको सदैव प्रस्तुत रहता है, उसने परमात्माको पा लिया है; वह पण्डित है। किंतु जो दूसरोंकी विवशताका लाभ उठाकर अपने ही स्वार्थकी पूर्ति करता है, अपना ही पेट पालता है, वह दूसरोंपर तो अत्याचार करता ही है, स्वयं भी उसका शिकार हुए बिना नहीं रहता; अन्ततः उसकी भी दुर्दशा ही होती है। वह इस दुनियासे ले क्या जाता है। अतः वह अविवेकी मूर्ख ही है।

मेरे कारण किसीको पीड़ा या कष्ट न हो, ऐसा जो अपना जीवन और व्यवहार बना लेता है, वह पण्डित है; किंतु जिसके कारण सब दुखी हो जाते हैं, जो ईर्ष्यालु और क्षुद्र-हृदय है, सबकी दुर्भावनाओंका केन्द्र वह अभिशप्त पुरुष सबकी आँखोंका काँटा बनकर जीता है। उसे कोई चाहनेवाला नहीं। जिसकी छायातकसे सब डरें, ऐसा व्यक्ति सचमुच मूर्ख है।

जो जीवमात्रपर दया करता है, सबका विश्वास करता है, सबका हित करता है; वह समद्रष्टा ऋषि पण्डित है; किंतु जो पद-पदपर क्रूरताका व्यवहार करता है, हर व्यक्तिपर संदेह करता है और सबका अहित सोचता है, वह दूसरोंका हृदय नहीं जीत सकता; वह मूर्ख है।

जो अपने हृदयमें उमड़नेवाले स्नेहके निर्बाध स्रोतमें प्राणिमात्रको आकण्ठ निमग्न देखता और कर देता है, वह सर्वहितचिन्तक पण्डित है; किंतु जो इन्द्रियोपभोगकी लालसासे प्राणियोंका जीवनतक ले लेता है, वह क्रूर मूर्ख है।

जो दूसरोंको संकटमें देखकर हँसता नहीं, वरं तत्परतापूर्वक सहायताका हाथ बढ़ाता है, सत्परामर्श देता है, वह पण्डित है; किंतु जो संकटापन्न व्यक्तिको देख प्रसन्न होता है, अनेक जटिल परिस्थितियोंको उत्पन्न कर उसे और भी जकड़ देनेकी चेष्टा करता है, सहानुभूतिके स्थानपर व्यंगका आश्रय ले जलेपर और भी नमक छिड़कता है, वह मानवताका शत्रु पिशाच है, मूर्ख है।

जो भँवरमें पड़े मनुष्यको उबारनेके लिये अपने प्राणोंकी चिन्ता न करके स्वयं उस भँवरमें कूद पड़ता है। विवेक, साहस और शक्तिसे उस आसन्न विपत्तिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा करता है, वह धीर, वीर, दयाका सागर उद्धारक पण्डित है; किंतु जो ऐसी परिस्थितिमें शक्ति रखते हुए भी कापुरुष बन टुकुर-टुकुर देखा करता है, वह निर्दयी पुरुष मूर्ख है।

जो अपनी पीड़ाकी अनुभूतिसे दूसरेकी वेदनाका अनुमान कर पीड़ित होता है, उसे दूर करनेके लिये यथासाध्य चेष्टा करता है, वह पीड़ितकी पीड़ाका हरण ही नहीं करता, उसका हृदय भी जीत लेता है; अतः वह पण्डित है; किंतु अपनी पीड़ाको ही कष्टदायिनी और दूसरोंकी पीड़ाको नगण्य समझकर जो किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता है, वह नितान्त मूर्ख है।

मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान

(लेखक—श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०)

हिंदुओंके पूर्व-ऐतिहासिक सामाजिक जीवनकी झाँकियाँ महाभारत, रामायणमें मिलती हैं; किंतु उनमें कविताकी भाषा और कहीं-कहीं अतिशयोक्ति अलंकार होनेसे आजकल उसे ऐतिहासिक सामग्रीकी कोटिमें रखनेमें कुछ लोग हिचकते हैं। किंतु धर्मशास्त्रकारोंने तो अपने समयके समाजकी आवश्यकताओंको देखते हुए अपने समयके समाज और आनेवाली पीढ़ियोंको मर्यादित रखने और उसकी बुराइयोंको रोकनेके लिये नियम बनाये। अतः तत्कालीन सामाजिक स्थितिको जाननेके लिये इनमें अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। स्मृतियोंके टीकाकारोंने भाष्य करते हुए अपने समयकी सामाजिक माँग देखकर टीकाओंमें मूल रचनासे सर्वथा कुछ नया दृष्टिकोण रखते हुए नया विचार किया है। जैसे मनुने अपुत्र मरनेवालेकी सम्पत्तिमें पत्नी या लड़कीको हक नहीं दिया है; किंतु टीकाकार कुल्लूक भट्टने अपुत्रकका अर्थ यह लगाया है 'वह व्यक्ति जो मरते समय न पुत्र, न लड़की, न स्त्री छोड़ गया हो।' इस तरह कई टीकाकारोंने सर्वथा नवीन सुझाव दिये हैं। यद्यपि मनुस्मृतिके अलावा और भी कई स्मृतियाँ हैं, जो सामाजिक नियमकी रचनामें महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, फिर भी मनुका स्थान सर्वोपरि है। मनुके बाद ही याज्ञवल्क्यका स्थान है। ऐसे स्मृतिकारोंकी दृष्टिमें नारीका समाजमें क्या स्थान था, यह जानना बड़ा लाभप्रद होगा—विशेषकर इसलिये कि उनके एक श्लोकके एक चरणसे (न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति), आधुनिक शिक्षित स्त्री-समाज अत्यधिक उद्वेलित है। परंतु इन आलोचकोंने मनुस्मृतिमें यत्र-तत्र बिखरे हुए नारीके सम्मानमें कहे हुए वाक्योंको एकत्रकर सम्भवतः नहीं पढ़ा है। नहीं तो, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' ऐसे वचनोंके उपस्थित रहते मनुको नारीके विषयमें हेय दृष्टि रखनेवाला कभी नहीं समझते।

जैसा कि विख्यात विधिज्ञ सर हेनरी मैन तथा महान् विचारक स्टुअर्ट मिलका कहना है—'किसी समाज या कालकी सभ्यताका सबसे उत्तम मापदण्ड उस समाज और समयमें स्त्रियोंकी उच्च या नीची स्थिति है; जिस परिमाणमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता और समताका अधिकार दिया है समाजने, वह उतना ही प्रगतिशील समझा जायगा।'* यद्यपि यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं है, तथापि इस दृष्टिसे भी हमें अपने शास्त्रकारोंपर रोष करनेका कोई कारण नहीं है। आगे चलकर हम यह भी दिखायेंगे कि मनुके बाद आनेवाले याज्ञवल्क्य ऋषिने स्त्रियोंके बारेमें क्या मत व्यक्त किया था।

मनुने समाजमें स्त्रीको बड़े सम्मानका स्थान दिया है और ऐसा कार्य सौंपा है, जो उसकी प्रकृति, शारीरिक बनावट और गुणोंके सर्वथा अनुकूल है।

---

* **Early History of Institutions by Sir Henry Mann तथा Subjection of Women by Stuart Mill page 48.**

मनु तो कहते हैं कि मनुष्यकी लोकयात्रा ही स्त्रीकी सहायता और सहकारितापर अवलम्बित है ।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥

(मनु० ९ । २७)

अर्थात् 'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए संतानका लालन-पालन और नित्यप्रतिके गार्हस्थ्य-जीवनकी देख-भाल करना स्त्रीके ऊपर आश्रित है ।' साथ ही वे उसे उचित मात्रामें पिता, पति, भाईके प्रेम और स्नेहकी अधिकारिणी बताते हैं, उनके द्वारा उनका सम्मान और भूषण प्राप्त होनेकी व्यवस्था देते हैं ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

(मनु० ३ । ५५)

'पिता, भाई, पति और देवर आदि जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे पुत्री, भगिनी, पत्नी और भाभी आदिके रूपमें नारीका आदर करते रहें, मधुर भाषण, भोजन-वस्त्र, आभूषण आदिसे उन्हें प्रसन्न रक्खें ।'

फिर ५६ वें श्लोकमें कहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

'जिस घरमें नारियोंका सत्कार होता है, वहाँ देवता सुखसे निवास करते हैं । जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं ।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥

(मनु० ३ । ५७)

'जिस कुलमें स्त्रियाँ (पुरुषोंके दुर्व्यवहारसे) दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है । जहाँ ये दुखी नहीं रहतीं, उस कुलकी सदा समृद्धि होती है ।'

फिर आगे कहते हैं—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

(मनु० ३ । ५९)

अर्थात् 'ऐश्वर्य चाहनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि विवाह आदि शुभ अवसरोंपर आभूषण, वस्त्र और खानपानसे नारियोंका सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करें ।'

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३ । ६०)

'जिस गृहमें पति-पत्नी परस्पर संतुष्ट रहते हैं, वहाँ निश्चय ही कल्याण स्थायी रहता है ।'

फिर कहते हैं—

यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगतम् ॥

'जहाँ पति और पत्नी परस्पर वशमें रहते हैं, वहाँ धर्म, अर्थ और काम एकत्र हो जाते हैं ।'

परंतु कहीं-कहीं इस विचारधाराके विपरीत इङ्गित करते हुए कुछ श्लोक मनुस्मृतिमें मिलते हैं । जैसे—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(मनु० ९ । ३)

तथा दूसरे ऐसे वाक्य जिसमें स्त्रियोंकी शारीरिक बनावटके कारण, उनकी आवश्यकताओंको देखकर, उनपर कुछ प्रतिबन्ध-सा लगा दिखायी पड़ता है । 'पिता उनके कौमार्यके समय उनकी रक्षा करे, विवाह हो जानेपर युवावस्थामें पति तथा बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करें । स्त्रीको अकेला स्वच्छन्द नहीं छोड़ देना चाहिये ।' अब इसीमें श्रीतुलसीदासजीकी चौपाई 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' जोड़कर लोग समझते हैं कि स्त्रीजातिको चहारदीवारीमें कैद रखनेका फतवा है यह । परंतु यहाँ 'रक्षति' शब्दकी सार्थकतापर ध्यान देना आवश्यक है; फिर 'रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः ।' बुढ़ापेमें माताकी रक्षाका बोझ पुत्रोंपर डाल देनेकी क्या सुन्दर व्यवस्था है ।

फिर स्त्रीको बच्चा होनेसे कुछ पहले, बच्चा होते समय, बच्चा होनेके बाद किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता पड़ती है । उसकी शारीरिक रचनाके कारण ही उसे अकेला नहीं रक्खा जा सकता । परंतु नारीके प्रति मनुके भाव कितने कोमल हैं, यह निम्नलिखित श्लोकसे पता चलता है । मनु कहते हैं—अतिथि आ जायँ तो उन्हें प्रेमपूर्वक सत्कारके साथ उत्तम भोजन करायें; किंतु यदि कोई गर्भिणी स्त्री हो, रोगिणी हो, नयी आयी वधू हो (जो लज्जाके मारे कुछ कह न सकती हो), तो उसको खिलाकर अतिथिको खिलाये । कहीं ऐसा न हो कि अतिथियोंके खिलानेमें भोजन शेष न रह जाय और ये सब समयसे भोजन न पायें । रोगिणी स्त्री

या रोगी पुरुष और गर्भिणी स्त्रीका तो समयपर भोजन न मिलनेसे बुरा हाल होगा ही, नयी विवाहिता दुलहिन भी अस्वस्थ हो जायगी।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन्॥
(मनु० ३।११४)

याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः।
सम्भोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम्॥
(आचाराध्याय श्लोक १०५)

अर्थात् 'बच्चोंको, वृद्धको, स्ववासिनीको, (अर्थात् जिस कन्याका विवाह हो गया है किंतु अभी गौना नहीं हुआ है, उसे), गर्भिणी स्त्रीको, रोगीको, कन्याओंको तथा अतिथियों और नौकरको खिलाकर गृहस्वामी और स्वामिनी भोजन करें।'

यदि किसी कन्यासे कोई पुरुष बलात्कार करता है तो मनुकी आज्ञा है कि राजा या समाज उस मनुष्यको बाध्य करे कि उससे विवाह कर ले और कुछ नकद भी उसे दे। किंतु यह तभी समीचीन माना जायगा, जब लड़की भी राजी हो। यदि लड़की उसको नहीं चाहती तो वह किसी अन्यसे विवाह कर सकती है। इस तरह लड़कीको यह सुविधा देकर मनुने स्त्रीके ऊपर अधिक उदारता दिखायी है।

याज्ञवल्क्यजीने भी मनुकी ही भाँति स्त्रियोंके लिये कहा है—

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्राश्च वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः॥
(आचाराध्याय ८५)

अर्थात् 'कन्यावस्थामें वे पिताकी देख-रेखमें रहें, विवाह होनेपर पतिकी, बुढ़ापेमें पुत्रोंकी और जब कोई न हो तो जाति-बिरादरीवालोंकी देख-रेखमें रहें। वे अकेले अपने भरोसे नहीं छोड़ी जा सकतीं।' इसीको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयान्यथा भवेत्॥
(आचाराध्याय ८६)

अर्थात् 'स्त्रीको पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर और मामामेंसे किसीके संरक्षणमें रहना ही चाहिये। ऐसा न होनेपर निन्दा होनेकी आशङ्का है।' इसमें माता और श्वश्रू शब्द बड़े सार्थक हैं। वस्तुतः इसमें अपने-अपने स्थानपर सबको बाध्य किया गया है कि वे हर अवस्थामें स्त्रीकी रक्षा करें। इससे यह प्रकट होता है कि श्लोक स्त्रीके हितके लिये कहा गया है, उसको पुरुषसे नीचा स्थान देनेके लिये कदापि नहीं।

मनुकी ही भाँति याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः॥
(आचाराध्याय ८२)

'पति, भाई, पिता, सास, ससुर और देवर तथा जाति-बिरादरी और पट्टीदारोंद्वारा स्त्रियोंका सत्कार होना चाहिये और उनको भोजन, वस्त्र तथा आभूषण मिलना चाहिये।' ये स्मृतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। इनसे पता लगता है पुराने युगमें भी हिंदुओंमें स्त्रीका कितना अधिक सम्मान था और उसकी सुख-सुविधाके लिये कितना ध्यान रक्खा गया था। उस समयकी स्त्रियोंमें भी सज्जा-शृङ्गार आदिका प्रयोग होता था। इसीलिये मनुजीको कहना पड़ा—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥
(मनु० २।२११)

अर्थात् 'ब्रह्मचारीको चाहिये कि तैलमर्दन, नहलाना, शरीरकी मालिश, बाल सँवारना—ये कार्य गुरुपत्नीके न करे।' याज्ञवल्क्यजीने भी दूसरे सम्बन्धमें इसी प्रकार कहा है कि जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो, वह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥
(आचाराध्याय ८४)

—'स्त्री कोई खेल न खेले (टीकाकारने कन्दुक-क्रीड़ा लिखा है), उबटन, चन्दनादि लगाकर शरीरका संस्कार न करे, न कहीं मेले-ठेले या उत्सवमें जाये। हँसी-ठठ्ठा न करे। दूसरेके घर न जाय।

मनुने गृहस्थके जीवनमें गृहिणीको एक बड़ा आदरणीय और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे कहते हैं कि संतान उत्पन्न करनेवाली भाग्यशालिनी गृहलक्ष्मी जो घरकी प्रकाश है, उसमें और लक्ष्मीदेवीमें कोई अन्तर नहीं है। मनु फिर कहते हैं कि संतानोत्पत्ति, धर्मकार्य, सेवा-परिचर्या, अत्यन्त उत्कृष्ट, विवाहित जीवनका आनन्द और स्वर्गकी प्राप्ति स्त्रीके द्वारा ही सम्भव हैं।

मनु तो कहते हैं कि मनुष्यकी लोकयात्रा ही स्त्रीकी सहायता और सहकारितापर अवलम्बित है ।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥

(मनु० ९ । २७)

अर्थात् 'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए संतानका लालन-पालन और नित्यप्रतिके गार्हस्थ्य-जीवनकी देख-भाल करना स्त्रीके ऊपर आश्रित है।' साथ ही वे उसे उचित मात्रामें पिता, पति, भाईके प्रेम और स्नेहकी अधिकारिणी बताते हैं, उनके द्वारा उनका सम्मान और भूषण प्राप्त होनेकी व्यवस्था देते हैं ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

(मनु० ३ । ५५)

'पिता, भाई, पति और देवर आदि जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे पुत्री, भगिनी, पत्नी और भाभी आदिके रूपमें नारीका आदर करते रहें, मधुर भाषण, भोजन-वस्त्र, आभूषण आदिसे उन्हें प्रसन्न रक्खें ।'

फिर ५६ वें श्लोकमें कहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

'जिस घरमें नारियोंका सत्कार होता है, वहाँ देवता सुखसे निवास करते हैं । जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं ।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥

(मनु० ३ । ५७)

'जिस कुलमें स्त्रियाँ (पुरुषोंके दुर्व्यवहारसे) दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है । जहाँ ये दुखी नहीं रहतीं, उस कुलकी सदा समृद्धि होती है ।'

फिर आगे कहते हैं—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

(मनु० ३ । ५९)

अर्थात् 'ऐश्वर्य चाहनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि विवाह आदि शुभ अवसरोंपर आभूषण, वस्त्र और खानपानसे नारियोंका सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करें ।'

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३ । ६०)

'जिस गृहमें पति-पत्नी परस्पर संतुष्ट रहते हैं, वहाँ निश्चय ही कल्याण स्थायी रहता है ।'

फिर कहते हैं—

यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगतम् ॥

'जहाँ पति और पत्नी परस्पर वशमें रहते हैं, वहाँ धर्म, अर्थ और काम एकत्र हो जाते हैं ।'

परंतु कहीं-कहीं इस विचारधाराके विपरीत इङ्गित करते हुए कुछ श्लोक मनुस्मृतिमें मिलते हैं । जैसे—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(मनु० ९ । ३)

तथा दूसरे ऐसे वाक्य जिसमें स्त्रियोंकी शारीरिक बनावटके कारण, उनकी आवश्यकताओंको देखकर, उनपर कुछ प्रतिबन्ध-सा लगा दिखायी पड़ता है । 'पिता उनके कौमार्यके समय उनकी रक्षा करे, विवाह हो जानेपर युवावस्थामें पति तथा बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करें । स्त्रीको अकेला स्वच्छन्द नहीं छोड़ देना चाहिये ।' अब इसीमें श्रीतुलसीदासजीकी चौपाई 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' जोड़कर लोग समझते हैं कि स्त्री-जातिको चहारदीवारीमें कैद रखनेका फतवा है यह । परंतु यहाँ 'रक्षति' शब्दकी सार्थकतापर ध्यान देना आवश्यक है; फिर 'रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः ।' बुढ़ापेमें माताकी रक्षाका बोझ पुत्रोंपर डाल देनेकी क्या सुन्दर व्यवस्था है ।

फिर स्त्रीको बच्चा होनेसे कुछ पहले, बच्चा होते समय, बच्चा होनेके बाद किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता पड़ती है । उसकी शारीरिक रचनाके कारण ही उसे अकेला नहीं रक्खा जा सकता । परंतु नारीके प्रति मनुके भाव कितने कोमल हैं, यह निम्नलिखित श्लोकसे पता चलता है । मनु कहते हैं—अतिथि आ जायँ तो उन्हें प्रेमपूर्वक सत्कारके साथ उत्तम भोजन कराये; किंतु यदि कोई गर्भिणी स्त्री हो, रोगिणी हो, नयी आयी वधू हो (जो लज्जाके मारे कुछ कह न सकती हो), तो उसको खिलाकर अतिथिको खिलाये । कहीं ऐसा न हो कि अतिथियोंके खिलानेमें भोजन शेष न रह जाय और ये सब समयसे भोजन न पायें । रोगिणी स्त्री

या रोगी पुरुष और गर्भिणी स्त्रीका तो समयपर भोजन न मिलनेसे बुरा हाल होगा ही, नयी विवाहिता दुलहिन भी अस्वस्थ हो जायगी।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन्॥
(मनु० ३। ११४)

याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः।
सम्भोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम्॥
(आचाराध्याय श्लोक १०५)

अर्थात् 'बच्चोंको, वृद्धको, स्ववासिनीको, (अर्थात् जिस कन्याका विवाह हो गया है किंतु अभी गौना नहीं हुआ है, उसे), गर्भिणी स्त्रीको, रोगीको, कन्याओंको तथा अतिथियों और नौकरको खिलाकर गृहस्वामी और स्वामिनी भोजन करें।'

यदि किसी कन्यासे कोई पुरुष बलात्कार करता है तो मनुकी आज्ञा है कि राजा या समाज उस मनुष्यको बाध्य करे कि उससे विवाह कर ले और कुछ नकद भी उसे दे। किंतु यह तभी समीचीन माना जायगा, जब लड़की भी राजी हो। यदि लड़की उसको नहीं चाहती तो वह किसी अन्यसे विवाह कर सकती है। इस तरह लड़कीको यह सुविधा देकर मनुने स्त्रीके ऊपर अधिक उदारता दिखायी है।

याज्ञवल्क्यजीने भी मनुकी ही भाँति स्त्रियोंके लिये कहा है—

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्राश्च वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः॥
(आचाराध्याय ८५)

अर्थात् 'कन्यावस्थामें वे पिताकी देख-रेखमें रहें, विवाह होनेपर पतिकी, बुढ़ापेमें पुत्रोंकी और जब कोई न हो तो जाति-बिरादरीवालोंकी देख-रेखमें रहें। वे अकेले अपने भरोसे नहीं छोड़ी जा सकतीं।' इसीको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयान्यथा भवेत्॥
(आचाराध्याय ८६)

अर्थात् 'स्त्रीको पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर और मामामेंसे किसीके संरक्षणमें रहना ही चाहिये। ऐसा न होनेपर निन्दा होनेकी आशङ्का है।' इसमें माता और श्वश्रू शब्द बड़े सार्थक हैं। वस्तुतः इसमें अपने-अपने स्थानपर सबको बाध्य किया गया है कि वे हर अवस्थामें स्त्रीकी रक्षा करें। इससे यह प्रकट होता है कि श्लोक स्त्रीके हितके लिये कहा गया है, उसको पुरुषसे नीचा स्थान देनेके लिये कदापि नहीं।

मनुकी ही भाँति याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः॥
(आचाराध्याय ८२)

'पति, भाई, पिता, सास, ससुर और देवर तथा जाति-बिरादरी और पट्टीदारोंद्वारा स्त्रियोंका सत्कार होना चाहिये और उनको भोजन, वस्त्र तथा आभूषण मिलना चाहिये।' ये स्मृतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। इनसे पता लगता है पुराने युगमें भी हिंदुओं-में स्त्रीका कितना अधिक सम्मान था और उसकी सुख-सुविधा-के लिये कितना ध्यान रक्खा गया था। उस समयकी स्त्रियोंमें भी सज्जा-श्रृङ्गार आदिका प्रयोग होता था। इसीलिये मनुजी-को कहना पड़ा—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥
(मनु० २। २११)

अर्थात् 'ब्रह्मचारीको चाहिये कि तैलमर्दन, नहलाना, शरीरकी मालिश, बाल सँवारना—ये कार्य गुरुपत्नीके न करे।' याज्ञवल्क्यजीने भी दूसरे सम्बन्धमें इसी प्रकार कहा है कि जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो, वह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥
(आचाराध्याय ८४)

—'स्त्री कोई खेल न खेले (टीकाकारने कन्दुक-क्रीड़ा लिखा है), उबटन, चन्दनादि लगाकर शरीरका संस्कार न करे, न कहीं मेले-ठेले या उत्सवमें जाये। हँसी-ठट्ठा न करे। दूसरेके घर न जाय।

मनुने गृहस्थके जीवनमें गृहिणीको एक बड़ा आदरणीय और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे कहते हैं कि संतान उत्पन्न करनेवाली भाग्यशालिनी गृहलक्ष्मी जो घरकी प्रकाश है, उसमें और लक्ष्मीदेवीमें कोई अन्तर नहीं है। मनु फिर कहते हैं कि संतानोत्पत्ति, धर्मकार्य, सेवा-परिचर्या, अत्यन्त उत्कृष्ट, विवाहित जीवनका आनन्द और स्वर्गकी प्राप्ति स्त्रीके द्वारा ही सम्भव हैं।

कर्मफल

[कहानी]

(लेखक—श्रीविजयजी निर्बाध)

ननिहालसे घर लौटनेपर राजकुमार शैलेन्द्रको ज्ञात हुआ कि युवराज धर्मेन्द्रको सम्राट्ने कुपित होकर साम्राज्यसे निष्कासित कर दिया है और राजकुमारको राजसिंहासनका उत्तराधिकारी बनाये जानेकी घोषणा कर दी है। सम्भवतः कोई और होता तो निश्चित ही उसका हृदय गद्गद हो उठता; परंतु धर्मपरायण राजकुमारने जब यह समाचार सुना तो उनका हृदय शोक-संतप्त हो उठा। मन-ही-मन अग्रजको लौटा लानेका संकल्प उन्होंने कर डाला और अन्ततः पिताकी अनुमति प्राप्त करके युवराजकी खोजमें वे घरसे निकल पड़े।

उधर युवराज वन-प्रान्तरमें भटकते हुए एक झरनेके निकट आ निकले। अञ्जलि भरकर जलपान किया और किनारेपर खड़े एक सघन वृक्षकी छायामें वे लेट गये। शीतल-मन्द समीरके मधुर स्पर्शसे बरबस ही उन्हें नींद आ गयी। पत्नीने देखा कि पतिकी कटार उनकी करवटमें आयी हुई उनकी सुख-निद्रामें बाधक सिद्ध हो रही है, अतः उसे कमरसे निकालकर एक ओर रखनेके लिये ज्यों ही कटारकी मूँठ पकड़कर उसने खींची कि कटार युवराजके पेटको चीरती हुई म्यानसे बाहर आ गयी। अपने ही हाथों युवराज्ञीका सौभाग्य लुट गया—अनहोनी होनीमें पलटकर रह गयी।

अकस्मात् ही युवराज्ञीकी दृष्टि दूरसे आते हुए राजकुमार शैलेन्द्रपर पड़ी। पतिके शवको चादरसे ढककर युवराज्ञी राजकुमारके पास जा पहुँची और सम्पूर्ण समाचार जाननेके उपरान्त उनसे बोली—'कई दिनोंकी थकानके कारण उन्हें तनिक नींद आ गयी है। उस झरनेके किनारे खड़े आम्र-वृक्षके नीचे वे सो रहे हैं। तुम जाकर उनके पास बैठो, मैं भी अभी वहाँ पहुँचती हूँ।'

अभी वापस आनेका आश्वासन देकर गयी हुई युवराज्ञी पर्याप्त प्रतीक्षाके उपरान्त जब लौटी तो उसके साथ राज-कर्मचारी थे, जो युवराज्ञीकी शिकायतपर राजकुमारको युवराजकी हत्या कर देनेके आरोपमें बंदी बना लेनेके लिये वहाँ आये थे।

सम्राट्की राजसभा आज खचाखच भरी थी। सर्वत्र शोकका वातावरण छाया हुआ था। राजकुमार शैलेन्द्र निर्दोष होते हुए भी अभियुक्तके रूपमें पिताके सामने खड़े थे और युवराज्ञी रह-रहकर करुणाभरी वाणीमें न्यायकी माँग कर रही थी। अन्ततः न्यायमन्त्रीके परामर्शपर सम्राट्ने घोषणा की—'यद्यपि हत्याका दण्ड मृत्यु होना चाहिये; फिर भी युवराजकी हत्याके उपरान्त यदि राजकुमारको भी मृत्यु-दण्ड दे दिया गया तो यह सिंहासन उत्तराधिकारि-विहीन हो जायगा। अतः राजकुमारका दायाँ हाथ, जिससे उन्होंने युवराजकी हत्या की है, काट दिये जानेका दण्ड उन्हें दिया जाता है।' और देखते-ही-देखते निरपराध युवराजका दायाँ हाथ जल्लादोंने काट डाला।

उस रात युवराजको नींद नहीं आयी। एकके बाद एक प्रश्न-चिह्न उनके सामने उभर-उभरकर आने लगे। क्या यही है विधाताका न्याय? उनका हृदय ग्लानिसे भर उठा। तभी त्रिकालदर्शी ज्योतिषी चन्द्रसेनका स्मरण उन्हें हो आया। तत्काल उनके निवासस्थानकी ओर वे चल पड़े। प्रातःकाल जब वे ज्योतिषी चन्द्रके घर पहुँचे तो ब्राह्मण हवनपर बैठ चुका था और उसकी पत्नीकी कर्कश-वाणी रह-रहकर उसके इस पुण्यकार्यमें बाधा डाल रही थी। राजकुमार ज्योतिषीकी प्रतीक्षामें द्वारपर ही बैठ गये। साक्षात्कार होनेपर अपनी बातसे पहले ज्योतिषीकी बात ही वे पूछ बैठे। उत्तरमें त्रिकालदर्शी ज्योतिषीने कहा—पिछले जन्ममें मेरी सहधर्मिणी तपस्विनी थी और मैं राक्षस'''उस जन्ममें मैं उसके तपको भङ्ग किया करता था, इस जन्ममें वह मेरे तपको भङ्ग करती है।

राजकुमारकी बातका उत्तर देते हुए ज्योतिषीने कहा—'तुम्हारे अग्रज पूर्वजन्ममें बधिक थे, तुम्हारी भाभी गाय थी और तुम एक ग्वाले थे। एक दिन वह बधिक उस गायका वध करनेके लिये जा रहा था कि वह उससे छूटकर भाग निकली और जब जंगलमें तुम्हें गायें चराते देखकर उस बधिकने अपनी गायके सम्बन्धमें पूछा तो तुरंत ही दायाँ हाथ उठाकर तुम बोले—वह रही, देखो, वह रही। तुम्हारी

भाभीने अपने उस जन्मके वधका बदला तुम्हारे अग्रजसे ले लिया और उस जन्ममें एक पापकर्मके लिये दायाँ हाथ उठानेके कारण इस जन्ममें तुम्हारा दायाँ हाथ काट लिया गया। विधाताका न्याय सचमुच बड़ा विचित्र है। कर्मफलसे किसी भी स्थितिमें मनुष्य बच नहीं सकता।

अवकाशके समयका सदुपयोग

(लेखक—श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा)

संसारमें यदि कोई सबसे मूल्यवान् वस्तु है तो वह है समय! जो समय बीत जाता है, उसे वापस प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्राणियोंके जीवनका समय सीमित है। उसका एक-एक पल बड़ी तेजीसे छीजता जा रहा है। अञ्जलिके जलकी तरह प्रतिक्षण छीजते हुए समयका एक दिन अन्त आ ही जाता है और हमारे सारे मनोरथ यहीं धरे रह जाते हैं। वैसे भी लोगोंकी प्रायः शिकायत रहती है कि क्या-क्या करें, काम तो बहुत करने हैं, पर समय नहीं मिलता। बहुत-से काम, जिन्हें हम बहुत ही महत्त्वके एवं उपयोगी समझते हैं, करना चाहते हुए भी समयाभावसे नहीं कर पाते। सूक्ष्म समयका मूल्य आँकना बड़ा ही कठिन है। क्षणभरके प्रमाद, आलस्य या देरीसे हम बहुत बार महान् लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

वैसे तो मनुष्य हर समय किसी-न-किसी प्रवृत्तिमें लगा ही रहता है; पर सभी प्रवृत्तियाँ आवश्यक, उपयोगी एवं लाभप्रद नहीं होतीं। जीवन-यापनके लिये कुछ प्रवृत्तियाँ तो अनिवार्य होती हैं; पर विचार करनेपर लगता है कि अनावश्यक और असत् प्रवृत्तियोंमें ही हम बहुत समय खो देते हैं। हर मनुष्य काम ही करता हो; ऐसी बात भी नहीं है। हमारा बहुत-सा समय बेकार और निकम्मा भी जाता है।

काम करते-करते या काम पूरा कर लेनेके बाद विश्रामकी आवश्यकता होती है, जिससे काम करनेकी शक्तिका पुनः संचय होता है। प्रकृतिने ही ऐसा विधान बना रक्खा है। दिनमें काम करें और रातमें नींद लेकर विश्राम भी करें, जिससे दिनभरके किये हुए कामकी थकावट दूर हो जाय और दूसरे दिन पूरी ताजगीके साथ पुनः काममें जुट जायँ। प्रवृत्तियाँ भी सब समय मनुष्य एक ही न करके अनेक प्रकारकी करता है—कोई व्यक्ति खड़ा-ही-खड़ा नहीं रह सकता, थोड़े समय बाद बैठनेकी भी आवश्यकता हो जाती है। कुछ समय खेल-कूदमें बीतता है, कुछ समय बातचीतमें। इस तरह मन, वचन और शरीरका अर्थात् इन्द्रियोंका उपयोग विविध प्रकारसे होता रहता है। कुछ समयतक तो आँखें निरन्तर देखनेका काम करती हैं, पर थोड़े समय बाद हमें नेत्रोंको बंद करने यानी विश्राम देनेकी आवश्यकता हो जाती है। इस तरह काम और विश्राममें समय बीतता जाता है। पर विश्राम आलस्यके या निठल्लेपनके लिये नहीं, विश्राम कामकी शक्ति बढ़ानेके लिये ही है।

प्रकृतिके साथ-साथ मनुष्यने भी अपनी सुविधाके लिये कामके साथ अवकाशका समय भी निकाल रक्खा है। जैसे सप्ताहमें छः दिन काम करके रविवारको छुट्टी मनायी जाती है, ताकि मनुष्य कामसे उकता न जाय और अपने बचे हुए अन्य प्रकारके काम छुट्टीके दिन पूरे कर सके। मनोरञ्जन, मिलना-जुलना, कहीं आना-जाना, आवश्यक सामान खरीदना आदि कार्य, जिन्हें वह छः दिनोंमें नहीं कर सका, सातवें छुट्टीके दिन कर सके। इसी तरह बहुत-से और भी छुट्टीके दिन होते हैं, जिन दिनोंमें उसे निश्चित कार्योंसे अवकाश मिलकर अन्य कार्य करनेकी सुविधा मिल जाती है। विद्यार्थियोंको परीक्षासे पहले कुछ दिन परीक्षाओंकी अच्छी तैयारी करनेके लिये छुट्टियाँ मिलती हैं। इसी तरह परीक्षाके बाद भी लंबी छुट्टियाँ मिलती हैं, ताकि परीक्षाके दिनोंमें उन्हें जो अधिक श्रम करना पड़ता है, उसकी थकावट दूर हो जाय, इधर परीक्षा-पत्रोंको जाँचकर परीक्षाओंका परिणाम घोषित करनेके लिये अध्यापकों आदिको भी समय मिल सके। इसी तरह इतने वर्षोंतक कार्य कर लेनेके बाद सरकारकी ओरसे भी उसे अवकाश—निवृत्ति मिल जाती है।

अब प्रश्न यह रहता है कि हम अवकाशके दिनोंमें समयका उपयोग किन कामोंमें करें। चार आश्रमोंमें विभाजित भारतीय जीवनमें इसकी सुन्दर व्यवस्था मिलती है। बाल्यावस्थामें विद्याध्ययन अर्थात् योग्यताकी प्राप्ति करके गृहस्थाश्रममें अपने कौटुम्बिक जीवनके सुसंचालनमें लगें। इसी तरह

अर्थोपार्जन, संतानोत्पादन करनेके बाद वानप्रस्थ स्वीकार किया जाय, जिसमें सेवामय जीवन दूसरोंके लिये लाभप्रद हो। साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी करें। संकुचित कुटुम्ब-की ममतासे अपनेको ऊपर उठाकर विश्ववात्सल्यके भावको जाग्रत् करें और सबके हितमें अपने जीवनका समर्पण कर दें। वास्तवमें अवकाशके समयका उपयोग भी हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मकल्याणमें ही करना उचित है। विद्यार्थी अपनी छुट्टियोंके दिनोंमें आसपासके अशिक्षित लोगोंको शिक्षित बनानेका प्रयत्न करें। व्यर्थ ही इधर-उधर घूमने, गप्पें मारने तथा खेलने आदिमें समय बरबाद न करें। अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे अपने ज्ञानको परिपुष्ट करें और दूसरोंको ज्ञानका दान करें। आज हम देखते हैं कि लंबी-लंबी छुट्टियोंसे विद्यार्थियोंका जीवन बरबाद-सा होता है। इन दिनोंमें कई बुरी आदतें डाल लेते हैं। इससे घरवाले भी परेशान होते हैं और स्वयंका जीवन भी बिगड़ता है। वास्तवमें उनके सामने कोई ध्येय या आदर्श नहीं होता कि इन छुट्टियोंका उपयोग किस तरहसे करें।

अबसे कुछ वर्षों पहले शिक्षालयोंमें छुट्टियाँ बहुत ही कम होती थीं। हम जब पढ़ते थे तब केवल प्रतिपदाको ही छुट्टी होती थी। इसके बाद महीनेमें चार छुट्टियाँ होने लगीं। पर ग्रीष्मावकाश आदिकी लंबी छुट्टियाँ तो इधर कुछ वर्षोंमें ही बढ़ी हैं, इससे विद्यार्थियोंका तनिक भी लाभ नहीं हुआ, अपितु बहुत हानि हुई है। आजकल वर्षमें चार-छः महीने छुट्टियोंमें ही बीत जाते हैं। यदि इतने समयमें मनो-योगपूर्वक पढ़ाई की जाय तो जिस श्रेणीमें पहुँचनेके लिये आज आठ वर्ष लगते हैं, वह चार-पाँच वर्षोंमें पूरी हो सकती है। तीन वर्षोंके बचतका भावी जीवनमें बड़ा भारी महत्त्व है। शिक्षाका स्तर तो पूर्वापेक्षा बहुत गिर चुका है। पहलेके पढ़े पाँचवीं कक्षाके विद्यार्थी आजके आठवीं कक्षाके विद्यार्थियोंसे बहुत तेज होते हैं। इस तरह विद्यार्थियोंके अमूल्य जीवनकी बरबादीको रोकनेका राष्ट्रीय सरकार एवं उसके हितैषी माता-पिता एवं अध्यापकोंका परम कर्तव्य होना चाहिये।

औद्योगिक क्षेत्रमें भी हम देखते हैं कि रविवार आदि छुट्टियोंके दिनोंका उपयोग मजदूर शराब पीने, सिनेमा देखने आदि बुरी बातोंमें ही करते हैं। उनको भी अपने अवकाशके समयका सदुपयोग अपनी योग्यताके विकासमें करना और नये-नये कामोंको सीखना चाहिये। उस समय सबको सम्मिलित होकर अपने परिवार, देश और राष्ट्रकी उन्नति कैसे हो, उत्पादन कैसे बढ़े, बरबादी कैसे मिटे—इस सम्बन्धमें विचार-विमर्श करना चाहिये। संत-समागम, प्रार्थना, ईश्वर-भजन, कीर्तन, अच्छे ग्रन्थोंका पढ़ना, अपने बच्चोंको कुसंस्कारसे दूरकर सुसंस्कारकी ओर प्रेरित करना, पीड़ित एवं दुखी व्यक्तियोंकी सेवा करके समयका सदुपयोग करना चाहिये। अवकाशप्राप्त व्यक्तियोंको भी इसी तरह स्व-पर-कल्याणमें लग जाना चाहिये। जीवनका एक क्षण भी प्रमाद एवं बुरे कामोंमें नष्ट न हो इसका पूरा विवेक रखना ही मानव-कर्तव्य है।

अपने सभी काम नियत समयपर करके अपना एवं दूसरोंका बहुमूल्य समय बचाइये, व्यर्थकी बातोंमें थोड़ा समय भी बरबाद नहीं करना चाहिये। व्यवस्थित ढंगसे काम करके हम अपने कार्योंमें समयके अपव्ययको बचा सकते हैं।

जीवन थोड़ा है और कार्य अनेक करने हैं। आयुष्य प्रतिक्षण छीजता जा रहा है और न जाने कब पूरा हो जाय। अतः भगवान् महावीरके महान् उद्‌बोधक संदेशको सदा ध्यानमें रखिये। 'समयं गोयमा पमायए' अर्थात् हे गौतम! एक क्षण भी प्रमाद न कर। जैन दर्शनमें कहा है कि समय बहुत ही सूक्ष्म होता है। हमें पूर्ण जाग्रतिके साथ उसके एक-एक पलका सदुपयोग करके जीवन सार्थक करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जो व्यक्ति वर्षोंतक काम करके अवकाश ग्रहण करते हैं, उनके वर्षोंके अनुभवका लाभ नवयुवकोंको मिलना चाहिये। अतः जिन व्यक्तियोंने जिन-जिन कार्योंमें कुशलता प्राप्त की हो, अवकाश ग्रहण करनेके बाद उन्हें दूसरोंको योग्य बनानेमें समय लगाना चाहिये; क्योंकि आजके बालक और युवक ही भावी राष्ट्रके कर्णधार होते हैं, उनके विकासमें अपना सहयोग देना राष्ट्रीय कर्तव्यका पालन तथा समयका सदुपयोग है।

स्नेहकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है

ईश्वर स्नेहमय हैं, वे प्रेमस्वरूप हैं। उनके स्नेहने सम्पूर्ण विश्वको, विश्वके प्रत्येक प्राणीको, अपितु एक-एक कणको एक सूत्रमें बाँध रक्खा है। स्नेहके वशीभूत होकर ही ईश्वर समय-समयपर अवतार धारण करते हैं। ईश्वरके द्वारा इस भूतलपर लोकके रक्षण और रञ्जनके लिये ऐसे-ऐसे कार्य हुए हैं, जो साधारण मानवके लिये असम्भव हैं। इन सम्पूर्ण कार्योंके मूलमें स्नेह ही कार्य कर रहा है। इतना ही नहीं, जिस मानवका मन ईश्वरीय स्नेहसे परिपूर्ण है, उसके द्वारा भी ईश्वर लोकहितके आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न करवा लेता है। प्रेम-स्वरूप भगवान्‌को प्रेम ही प्रिय है। और जिस मानवका मन ईश्वरीय स्नेहसे सरस है, उसका साधु-समाजमें बड़ा सम्मान है।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥

भगवान्‌ने कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

और भगवान्‌का अनुशासन यह है—

'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।' 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥'

सदा सज्जनोंके सङ्गमें रहो, जिससे मनको पोषक तत्त्व मिलते रहें और सदा सबसे प्रीति करो, दूसरेके दुःखमें दुःखका तथा सुखमें सुखका अनुभव करो। जिस प्रकार भगवान् सबके स्वार्थरहित सखा हैं (**स्वारथ रहित सखा सब ही के**), सर्वभूतोंके परम सुहृद् हैं (**सुहृदं सर्वभूतानाम्**), वैसे ही हम भी हों, निःस्वार्थ स्नेह और परम सौहार्द हमारे जीवनमें हो। निःस्वार्थ स्नेहके अनुशासनको यदि हम ईमानदारीसे अपने नित्यके जीवनमें उतारें, अवश्य ही हमारी सम्पूर्ण जागतिक बाधाएँ दूर हो जायँगी।

हमारे नित्यके जीवनमें निःस्वार्थ स्नेह किस प्रकारसे समाविष्ट हो, इसके लिये भगवान् रामका जीवन एक सुन्दर उदाहरण है। भरतजीने कहा—'खेलमें भी भाई रामने कभी अप्रसन्नता प्रकट नहीं की। उन्होंने कभी मेरे मनको भङ्ग नहीं किया और यह सब केवल इसीलिये कि मुझपर उनका विशेष स्नेह था।' उन्हीं रामके जीवनका एक और तथ्य है, स्नेह-सदन भगवान् रघुनाथने कभी अरिका अनभल नहीं किया। चित्रकूटके वनवासी स्वभावसे जड हैं, जीवघाती हैं, कुटिल-कुमति हैं; किंतु जबसे स्नेह-मूर्ति रघुनन्दनका वहाँ वास हुआ, वन मङ्गलमय हो गया। वनवासियोंका स्वभाव बदल गया। उनके दुस्सह दुःख-दोष मिट गये। यह था रामके स्नेहिल स्वभावका, प्रेमिल जीवनका प्रभाव।

हम भी अपने परिवारमें, अपने पड़ोसमें अपने अकारण प्यारका अबाध वितरण करें। निःस्वार्थ स्नेह सम्पूर्ण बाधाओंसे मुक्तिका राजमन्त्र और सम्पूर्ण सुविधाओंकी प्राप्तिका राज-मार्ग है। शत्रुको स्नेह दें, अहित करने-वालेका भला करें, शाप देनेवालेको वरदान दें, तिरस्कार करनेवालेके मङ्गलकी कामना करें। इन अनुशासनोंके पालनसे जीवनमें स्नेहकी वह शक्ति प्रस्फुटित होगी, जो पास-पड़ोसको सौरभसे भर देगी। क्रोध और घृणाके स्थानपर स्नेहसे असुरतापर विजय प्राप्त करें। असुरता अन्धकार है और स्नेह प्रकाश। अन्धकारसे अन्धकार नहीं मिटाया जा सकता। अन्धकारसे तो अन्धकार अधिकाधिक बढ़ेगा। प्रकाशके आते ही अन्धकार स्वयं नष्ट हो जायगा, अन्धकार रह नहीं सकता। स्नेहके सामने असुरता टिक नहीं सकती। हम अपने जीवनमें स्नेहका निर्मल प्रकाश बिखरने दें। हमारा जीवन, हमारा जगत् निर्मल प्रकाशसे प्रकाशित हो जायगा—निर्मल स्नेहसे सरस हो जायगा। स्नेह हमारे

पारिवारिक जीवनको, व्यापारिक सम्बन्धोंको, शारीरिक स्वास्थ्यको, तन-मनको सुखसे प्लावित कर देगा।

अपना वास-स्थान पूछनेपर महर्षि वाल्मीकिने भगवान् रामको बताया—'आप उनके हृदयमें निवास करिये, जो सबके प्रिय और सबके हितकारी हैं।

'तिनके हृदय बसहु रघुराया।' 'सब के प्रिय सब के हितकारी॥'

स्नेहकी शक्ति इसीलिये सर्वश्रेष्ठ है कि वह कण-कणमें सर्वत्र और समान रूपसे व्यापक हरिको उसी प्रकारसे अभिव्यक्त कर देती है, जैसे लकड़ी आगको। इसीलिये—

प्रीति की रीति न जाति बखानी॥

बस, स्नेहकी इस सर्वश्रेष्ठ और अतुल शक्तिको अपने जीवनमें जाग्रत् करें, विकसित करें, जो सम्पूर्ण सुखका मूलस्रोत है।

—श्रीराधेश्याम

एक अँगरेज भक्त

(लेखक—श्रीकुबेर भाई)

कुछ वर्षों पहले प्रसिद्ध उदासीन संत श्रीरामेशचन्द्र-जी महाराजने अपनी कथामें एक दिन एक अंग्रेज इंजीनियरके जीवनकी बड़ी ही आश्चर्यजनक अद्भुत सत्य घटना सुनायी, जिसे सुनकर सभी लोग गद्गद हो गये।

उन्होंने कहा एक अंग्रेज मुझको बिहारमें साधुवेषमें विचरता हुआ मिला था और उसने मुझको देखते ही कहा था—

'मेरे प्यारे, कृपाकर श्रीसीताराम कहो' (My dear, please say Shri Sita Rama). एक विदेशी और विधर्मी अंग्रेजके मुखसे भगवान्का नाम सुनकर एवं उनको एक वैष्णव साधुके वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। मैंने उनको अपने पास प्रेमसे बैठाकर पूछा—'आपके जीवनमें यह अद्भुत परिवर्तन एक-दम कैसे हुआ और आपने सब पदार्थोंपर लात मार-कर साधुवेष कैसे धारण किया तथा इस प्रकार भगवान् श्रीसीतारामजीके परम भक्त कैसे बने?' इसके उत्तरमें वह अंग्रेज एक लंबी गहरी साँस लेकर फफक-फफककर रोने लगा और बोला, 'हाय! मैंने भारतमें जन्म नहीं लिया, मेरा इतना समय व्यर्थ ही सांसारिक प्रपञ्चमें व्यतीत हो गया और मुझसे श्रीसीतारामजी महाराजका भजन नहीं हुआ।' फिर उसने कहा कि "मैं एक इंजीनियर था और इंग्लैंडसे बिहारमें एक डैम (बाँध) बनानेके लिये बुलाया हुआ आया था। मैं ही उसका इन्चार्ज भी था। वर्षा बड़ी भयंकर होनेसे बाँधके टूटनेका भारी खतरा पैदा हो गया, बाँधमें दरारें भी पड़ गयीं। मैं बाँधके टूटनेपर अपनी एवं अपने देशकी बदनामीके डरसे बहुत ही उदास और हताश हो गया। एक दिन मैं बड़ा चिन्तित होकर उस बाँधपर घूम रहा था, कि मैंने देखा बाँधपर काम करनेवाले पूर्बी मजदूरे भगवान्के नामका कीर्तन कर रहे हैं। मैंने पहले कभी कीर्तन नहीं देखा था। इसलिये मैं उन मजदूरोंके पास गया। पूछनेपर उन लोगोंने बताया कि यह हमारी पूज्य श्रीसीताजी महारानीका मन्दिर है, इस समय हम उनके सामने उन्हींका कीर्तन-भजन कर रहे हैं—जो कोई भी हमारे इस मन्दिरमें श्रीसीताजी महारानीके सामने खड़ा होकर सच्चे मनसे इनसे किसी बातकी भी प्रार्थना करता है तो श्रीसीतारामजी महाराजकी कृपासे

उसकी सारी मनोकामना पूर्ण हो जाती है । मैंने उन लोगोंसे कहा कि आप मेरी ओरसे भी अपनी देवी श्रीसीताजीसे प्रार्थना कर दें कि यदि मेरा बाँधा हुआ बाँध टूटनेसे बच गया तो मैं एक बहुत ही सुन्दर श्रीसीतारामजी महाराजका मन्दिर अपनी ओरसे पैसे खर्च करके बनवा दूँगा । मजदूरोंने कहा—ठीक है, और उन मजदूरोंने मेरी ओरसे भी प्रार्थना कर दी ।

"फिर मुझसे कहा कि 'अच्छा साहब, अब आप जाओ और विश्वास रक्खो कि आपका काम अवश्य पूरा होगा । अब यह बाँध नहीं टूट सकेगा ।' तब मैं वापस अपनी कोठीपर चला आया । उसी शामको बड़े जोरसे फिर वर्षा प्रारम्भ हो गयी, फिर तो मैं बहुत घबरा गया और मेरे मनमें पूरा निश्चय हो गया कि अब बाँध अवश्य टूट जायगा । किसी प्रकार बच नहीं सकता और यदि ऐसा हुआ तो मेरे करे-धरे सबपर पानी फिर जायगा । इन्हीं विचारोंके परिणामस्वरूप मेरे मनमें आत्महत्या करनेका विचार पैदा हो गया । मैंने उसी समय अपने ही हाथोंसे एक वसीयत लिख डाली, उसमें यह भी लिखा था कि 'मैं अपनी ही इच्छासे अपनी आत्महत्या कर रहा हूँ, इसमें दूसरे किसीका भी दोष नहीं है ।' उस लेख-पत्रको अपनी मेजपर रखकर मैं बाँधकी ओर चल पड़ा । मैंने यह मनमें निश्चय कर लिया कि बाँधके साथ ही मेरी भी मृत्यु हो जायगी । इस प्रकारका विचार करके जब मैं उस जोरोंकी वर्षामें बाँधपर चढ़ गया । वहाँ जाकर मैं क्या देखता हूँ कि वर्षामें एक साँवला और एक गोरा दो बालक बाँधके नीचे खड़े हैं और बाँधमें पड़ी दरारोंको अपने हाथोंसे मिट्टी लगाकर बंद कर रहे हैं । यह घटना देखकर मैंने उन मजदूरोंको बड़े जोरसे आवाज देकर बुलाया । वे आये तो मैंने उनसे कहा कि 'देखो यह बाँध अभी-अभी गिरनेवाला है, इसके नीचे दो सुन्दर बालक खड़े हैं, इनको जल्दी यहाँसे हटा दो, नहीं तो ये दोनों बाँधके नीचे दबकर मर जायँगे ।' तब उन मजदूरोंने देखा तो उनको बालक दिखायी नहीं पड़े, उनके पूछनेपर मैंने बालकोंका हुलिया बतलाया कि वे दोनों बालक अत्यन्त सुन्दर हैं, उन दोनों गौर-श्याम बालकोंके सिरोंपर बड़े ही सुन्दर मुकुट बँधे हुए हैं और दोनोंकी भुजाओंमें धनुष-बाण हैं । मेरी इस बातको सुनकर मजदूरोंने कहा कि 'ये दोनों बालक कोई साधारण बालक नहीं हैं । ये तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणजी हैं । आप बड़े ही भाग्यशाली हैं जो आपको साक्षात् प्रभुके दर्शन हो गये, अब आपका बाँध कदापि नहीं टूटेगा । आप बिल्कुल निश्चिन्त हो जायँ, आपने जिन भगवती श्रीसीताजी महारानीके सामने बाँधकी रक्षाके लिये खड़े होकर प्रार्थना करायी थी, आज उन्हींके स्वामी स्वयं अपने हाथोंसे आपके बाँधके बचानेकी कोशिश कर रहे हैं । फिर, भला यह कैसे टूट सकता है ।' इतना सुनते ही उसी समय मैं बेहोश हो गया, तब मुझे कुछ लोग उठाकर मेरी कोठीमें पहुँचा आये । कुछ देर बाद होश आनेपर मैंने विचार किया कि जिन प्रभु श्रीराम-लक्ष्मणजीने मेरे लिये अपने हाथोंसे बाँधका काम किया और बाँध टूटनेसे बिल्कुल बच गया तो अब उन्हींका होकर रहना है, मेरा इन संसारी धंधोंमें फँसे रहना व्यर्थ है । मैंने उसी समय अपना कोट, बूट, टोप, पतलून और सब मालमत्ता छोड़कर तुरंत साधुवेष धारण कर लिया और जंगलको चल दिया । अब मैं श्रीसीतारामजी महाराजका भजन किया करता हूँ और जो कोई मिलता है उससे भी भगवान् श्रीसीतारामजीका भजन करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ, उसके द्वारा सीतारामजी कहनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ।"

अच्छा, बोलो श्रीसीतारामजी महाराजकी जय !

ब्रह्मकी सर्वरूपता

(लेखक—श्रीशिवमूर्तिजी)

आकाश (गगन) का गुण शब्द परा-अपरा दो प्रकारके होते हैं, जिसमेंसे एक वास्तविक, दूसरा अवास्तविक होता है। अवास्तविक शब्दान्तर्गत पश्यन्ती, वैखरी, मध्यमा वाणी होती है, जिनका उच्चारण स्वर-व्यञ्जनके संयोगद्वारा होता है।

स्वरकी ही सहायता एवं व्याप्तिसे व्यञ्जन उच्चरित होते हैं अन्यथा व्यञ्जन (शव) की भाँति अनुच्चरित रहते हैं, केवल दृष्टिगोचर होते हैं—जैसे वाक्।

यह स्वर ही परा शब्दको प्रकट करता है, जो आकाशका आकार है, जो समस्त तत्त्वोंमें व्याप्त रहता है और वही सबका आदि-अन्त है। ब्रह्म (गगन) सदृश अक्षरोंमें स्वर माना जाता है। यही ब्रह्मकी सर्व-व्यापकताका प्रमाण है, जिसके सांनिध्यसे इस मायिक (अवास्तविक) काल्पनिक संसारका आभास प्राप्त होता है, जो व्यञ्जनाक्षर है।

जब स्वर व्यञ्जनमें प्रविष्ट होता है, तब उसकी अक्षरता व्यञ्जनमें निहित हो जाती है और व्यञ्जनाक्षर हो जाते हैं। इसी भाँति काल्पनिक (असत) क्षर सृष्टि भी ब्रह्मकी सत्ताके आधारपर सत्यवत् होने लगती है, यही सत्के आधारपर असत्की टिकानका दृष्टान्त है।

कल्पना चेतन प्राणियोंके अतिरिक्त दूसरा कर ही नहीं सकता और कल्पनाएँ भी जड होती हैं; क्योंकि वे स्वयं कार्यान्वित नहीं होतीं, जबतक कि कल्पना करनेवाला उसे कार्यान्वित न करे। इसके अतिरिक्त कल्पनाओंमें एवं कार्यान्वित कल्पनाओंमें भी परिवर्तन होता रहता है, जिसे क्षति भी कहते हैं। जैसे स्व-धन, स्व-प्राणी, स्व-शरीर आदिकी क्षतिसे अपनी ही क्षति मानकर दुःखका अनुभव होता है, यद्यपि वास्तवमें उसकी क्षति नहीं होती; क्योंकि वही पुनः धन-प्राणी एवं नवीन शरीर उत्पन्न कर सकता है और करता भी है। अल्पज्ञताके ही कारण यह अनुभव होता है।

रूपान्तरण यानी परिवर्तनके तीन ही क्षेत्र होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जिनमें केवल स्थूलान्तरण प्रत्यक्षाभासिक होता है। सूक्ष्मान्तरण तो सूक्ष्मदर्शी यन्त्रोंद्वारा एवं वैज्ञानिक प्राणियोंके द्वारा ज्ञात होता है और कारण तो केवल महात्माओंके ही द्वारा ज्ञात होता है।

प्रत्यक्षाभासित होनेके कारण दो-दो प्रकारकी सत्ताओंको मान्यता देनी पड़ती है—जैसे सत्-असत, चित्-अचित्, सुख-दुःख, प्रकाश-अन्धकार आदि। एक ही ब्रह्म अथवा पदार्थमें दो प्रतिकूल सत्ताओंके आभाससे ब्रह्म एवं पदार्थ (माया) को अनिर्वचनीय मानना पड़ता है।

सत्की सत्ता एवं असत्का अभाव दोनों ही सत्य होते हैं। इसी प्रकार चित्की चेतना, अचित्की जडता, अक्षरकी अमरता, क्षरका नाश, प्रकाशकी ज्योति, अन्धकारका तमादि भी सत्य होते हैं और ब्रह्मके अतिरिक्त कोई 'सत्' होता ही नहीं, वही सच्चिदानन्द है।

कथित दो-दो भाँतिकी परिस्थितियोंका द्रष्टा-नियन्त्रक, स्व-सत्तासूचक चेतनात्मा ही होता है—जैसे नेत्र ही समस्त संसार एवं पदार्थोंको देखते हैं, अन्य कोई नहीं देख सकता।

अब निर्वचनके सम्बन्धमें विचार कीजिये। इस प्रत्यक्ष आभासित पिण्ड एवं ब्रह्माण्डका ही पूर्ण निर्वचन नहीं किया जा सकता, तब निराकार ब्रह्मको अनिर्वचनीय मानना ही पड़ता है।

ब्रह्म इस संसारके समस्त पदार्थों एवं प्राणियोंमें 'ज्ञान-शक्ति, तेज-ऐश्वर्य, बल-वीर्यादि' आकारोंमें व्याप्त रहता है और उन्हींकी विभूतिसे इसका ज्ञानाभास प्राप्त होता है; किंतु प्राणियोंके भिन्न-भिन्न स्वभाव होनेसे **'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना'** उस ब्रह्मको कोई **'आत्मवत्**

पश्यति कश्चिदेनम्' शरीरको ही आत्मा कहते हैं। कोई आत्माको **'शून्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'** शून्यवत् मानते हैं। कोई विश्वको—**'ब्रह्मवत् पश्यति कश्चिदेनम्'**···· कोई ब्रह्मको—**'विश्ववत् पश्यति कश्चिदेनम्'**। अतः महात्माओंने यह निष्कर्ष निकाला है कि—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

यही ब्रह्म एवं ब्रह्माण्डकी अनिर्वचनीयताका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुभवके कुछ क्षण

(लेखक—श्रीविश्वेश्वरनारायणजी)

हम जहाँ भी हों, संसारके किसी भी कोनेमें वास करते हों, हमारा हर कार्य, हर व्यवहार भगवान्‌के सम्मुख होना चाहिये। हम यह सदैव स्मरण रक्खें कि भगवान्‌की दिव्य मनोहर झाँकी सदा सर्वत्र हमारे सम्मुख है, हमारे सामने है। हम जिस किसी भी व्यवहार या कार्यको करते हों, यह सदैव स्मरण रक्खें कि यह कार्य हमारे प्यारे—प्रभुका उन्हींकी प्रीतिके लिये है। हम उनके सेवक बनकर, उनके कर्मचारी बनकर उनके कार्योंको सँभाल रहे हैं। हम यदि कोई उत्सव मनाते हों या मनोरञ्जन करते हों, तो हमें सदैव यह स्मरण रहे कि भगवान्‌की दिव्य झाँकी लगी है। वह उत्सव, वह मनोरञ्जन-कार्य हमारे प्रभुका ही उत्सव और मनोरञ्जन है और उनकी ही प्रसन्नताके लिये हम इसे कर रहे हैं। धर्म-सम्मेलन, जैसे—हरिनाम-यश-संकीर्तन-सम्मेलन इत्यादि, विवाहोत्सव या कोई भी वार्षिक उत्सव मनाते हों, सबमें हमारी यही भावना परिपक्वरूपसे बनी रहे कि हम उस उत्सवको भगवान्‌की झाँकीके, उनके दिव्य आनन्दमय दरबारके सम्मुख कर रहे हैं, भगवान् स्वयं प्रत्यक्षरूपसे हमारे कार्योंको देख रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं।

इतना ही मात्र न रहे, हम और भी आगे बढ़ें। जब हम जल पी रहे हों, उस क्षण समझना चाहिये कि भगवान्‌का दिया हुआ अमृत-जल है, उनका चरणोदक है, उसमेंसे स्वयं भगवान्‌का दिव्य रस टपक रहा है। उसी तरह अन्न-ग्रहण करते समय समझें यह हमारे प्यारे प्रभुका दिव्य प्रसाद है। भगवान्‌का राज-भोग लगा हुआ है और हम उसीका प्रसाद पा रहे हैं। धूपमें बैठे हों तो समझना चाहिये, हम भगवान्‌के दिव्य आलोक—प्रकाशपुञ्जका आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। स्वयं हमारे प्रभु ही भुवन-भास्कर होकर अपना दिव्य प्रकाश-पुञ्ज फैला रहे हैं। हमारे अंदर जीवन—नव-जीवनका रस-संचार कर रहे हैं। हम जब टहलने निकलें या जो कुछ हमें हवाका संचार मिले, उसमें भी शीतल-मन्द-सुगन्ध भगवान्‌का ही नित्य नवीन अनुभव करते रहें। हम यह समझें कि स्वयं भगवान् ही पवन बनकर हमारे चारों ओर सिहरनका आनन्द फैला रहे हैं। पुष्पोंमेंसे सुगन्ध ला हमारे चारों ओर फैलाते जा रहे हैं।

इस प्रकारके अनुभवमें भगवान्‌की इस रसानुभूतिमें सचमुच बड़ा ही आनन्द है। जीवन भगवत्-सेवामय बन जायगा, भगवान्‌के दिव्य प्रेम-रससे सराबोर हो जायगा, आवश्यकता है मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-को एकाकार करके भगवान्‌के चरणकमलोंमें समर्पण कर देनेकी।

क्या किसीने आपकी कोई हानि की है ?

(लेखक—श्री ए० डी० हेफ्ले, अमेरिका)

ईसामसीहने कहा—'अपने शत्रुको प्यार करो।' पीछे अब्राहम लिंकनने यही विचार दूसरे शब्दोंमें व्यक्त किया—'किसीके प्रति द्वेष न रखो; सबके प्रति उदारताका भाव बढ़ाओ और इस प्रकार राष्ट्रके घावोंकी पूर्ति करो।'

इस प्रकार संसारके दो महान् पुरुषोंने, जिनमें एक ईसाईधर्मके प्रवर्तक हैं और दूसरे एक देशके महान् नेता हैं, जिन्होंने परस्पर झगड़ते हुए अपने देशवासियोंमें शान्ति एवं सद्भावनाका प्रसार करनेका प्रयत्न किया, संसारकी दो महान् विरोधी शक्तियों—प्रेम और घृणाका महत्त्व ठीकसे अनुभव किया। प्रेम एवं घृणाका यह संघर्ष आज भी उसी प्रकार गतिमान् है।

विश्व-इतिहासके इन दो महान् पुरुषोंद्वारा दी गयी चेतावनीपर विभिन्न राष्ट्रोंके नर-नारी ध्यान क्यों नहीं देते तथा क्यों नहीं इसे अपने जीवनमें उतारते? दूसरेके प्रति घृणा करना, विरोधी विचारोंको हृदयमें स्थान देना तथा अपने स्वार्थको प्रधानता देना आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्महत्या करना है। ईसामसीह इस बातको ठीकसे अनुभव करते थे। इसीसे उन्होंने पारस्परिक प्रेमको प्रधानता दी। महान् विजेता लिंकन क्रोध, द्वेष और घृणाके विनाशकारी प्रभावको जानते थे; क्योंकि ली (Lee) की सेनाके आत्म-समर्पण करनेपर उन्होंने अपने सेनानायकको वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका व्यवहार करनेका आदेश दिया। लिंकनके इस महान् दयापूर्ण व्यवहारसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने शत्रुओंके प्रति भी प्रेम कर सकता है।

इतिहासमें एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ घृणा और प्रतिशोधके द्वारा किसी अच्छे कार्यकी सिद्धि हुई हो। द्वेषपूर्ण विचार या भावना मनुष्यकी मानसिक शान्ति और आनन्दको नष्ट कर डालती है। असंयत नकारात्मक भावनाओंसे मनुष्यका व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है; उसकी निर्णय करनेकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है, उसका विवेक लुप्त हो जाता है और वह अपनेको अपने वास्तविक रूपमें देखनेमें असमर्थ हो जाता है। ये भावनाएँ विज्ञानद्वारा आविष्कृत भीषणसे भीषण जहरसे अधिक हानिप्रद हैं; क्योंकि इनका मनुष्यके शरीर, मन एवं आत्मा—तीनोंपर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। जिसके प्रति घृणा की जाती है, उस व्यक्तिकी उतनी हानि नहीं होती, जितनी घृणाको अपने हृदयमें स्थान देनेवालेकी।

डा० फ्रैंक क्रेन (Dr. Frank Crane) ने लिखा है—'प्रतिशोधकी भावना सबसे घातक मनोभाव है, जो मनुष्यको अपना गुलाम बनाता है। जब तुम अपनेको आघात पहुँचानेवालेको आघात पहुँचाना चाहते हो तो तुम्हारी कामना ऐसी वस्तुके लिये है, जो चाहके समय तुम्हें उत्तेजित करती है, जो मिलनेपर तुम्हें निराश बना देती है और जब सारा खेल समाप्त हो जाता है तब स्वयं अपनी ही दृष्टिमें तुम्हें हीन अनुभव कराती है।'

संसारमें युद्धकी विभीषिकाओंसे संत्रस्त क्षत-विक्षत नर-देह मानवकी घृणा एवं प्रतिशोधकी भयंकर प्रवृत्तिके ही घृणित रूप हैं।

अब यह देखना है कि मानवकी इस उन्मादभरी प्रवृत्तिसे किस प्रकार निपटा जाय? इस पैशाचिक मनोवृत्तिका, जिसने इतने कालसे मानवको अपना गुलाम बना रखा है, किस प्रकार उन्मूलन किया जा सकता है? प्रतिशोध एवं घृणाके भावको कोई भी अपने हृदयमें स्थान देकर सुखी नहीं हो सकता।

क्या आप अपने शत्रुको मित्रके रूपमें बदलना चाहते हैं? यदि हाँ, तो उसके प्रति भलाईका श्रीगणेश कीजिये, उसमें कम-से-कम एक सद्गुण खोजनेका प्रयत्न कीजिये। आपको आश्चर्य होगा कि आप उसमें अनेकों सद्गुण प्राप्त कर सकते हैं; शर्त केवल इतनी है कि आप उस प्रसङ्गको भूल जायँ, जिसको लेकर आपके मनमें उसके प्रति वैमनस्य उत्पन्न हुआ है। आप अपनी भावनासे अपने उस कल्पित शत्रुको उस निर्मल रूपमें देखिये जिस रूपमें आप उसे देखना चाहते हैं। आप उसे भगवान्की सर्वोत्तम कृतिके रूपमें, जिसके जीवनमें भगवान्की इच्छा ही सक्रिय हो रही है, देखिये।

यह भय मत कीजिये कि आपका सत्प्रयत्न व्यर्थ होगा। आपके शुभ विचार वातावरणमें फैल जायँगे और आपमें तथा आपके शत्रुमें शान्ति एवं मैत्री हो जायगी। सत्य अपना प्रभाव आपमें तथा आपके माध्यमद्वारा दूसरोंमें अवश्य प्रकट करेगा। सत्य आपके सम्मुख वह सरल स्थिति उत्पन्न करेगा; जिससे आप अपने शत्रुको प्यार करना सीख जायँगे।

घृणाकी भावनापर विजय प्राप्त करनेकी प्रथम सीढ़ी है क्षमा। आरम्भमें क्षमाका आचरण कठिन अनुभव हो सकता है, परंतु क्षमा मनुष्यके लिये परम आवश्यक है। महापुरुषोंने बताया है कि जिस प्रकार चेचक, राजयक्ष्मा तथा ऐसे ही संक्रामक भीषण रोगोंकी रोक-थाम हो सकती है, वैसे ही घृणाके भावोंका भी प्रतीकार सम्भव है। निःसंदेह घृणाके भावका प्रतीकार एवं परिशोधन न केवल शारीरिक स्वस्थता प्रदान करते हैं, अपितु एक अभूतपूर्व मानसिक शान्ति उत्पन्न करते हैं।

स्वस्थ मस्तिष्क किसीको हानि पहुँचाने, नष्ट करने अथवा प्रतिशोध लेनेकी इच्छा नहीं करता। आनन्द एवं शिव मानव-जातिकी अमूल्य निधियाँ हैं और इनका सक्रिय रक्षण होना चाहिये। वास्तवमें सुन्दर एवं शिवका इस जगत्में अभाव नहीं है। भगवान्ने हमारी सुख-सुविधा एवं आनन्दके लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु प्रचुरतासे हमें दी है, आवश्यकता केवल उन्हें अपनानेकी है।

पक्षियोंका सुमधुर गान, उषाकी स्वर्णिम अरुणिमा और वर्षाकी बूँदोंका रिम-झिम रूपमें बरसना—ये सब हमारे सुखके साधन हैं। अपने चारों ओरकी छोटी-छोटी वस्तुओं-से आनन्द लेने तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेमें हम अपने सम्पूर्ण जीवनको लगा सकते हैं और इस प्रकार विनाश एवं निराशाके विचारोंके लिये हमारे पास अवकाश ही नहीं रह सकता।

क्या किसीने आपकी कोई हानि की है? यदि हाँ, तो उसपर ध्यान न दीजिये; क्योंकि आपको बहुत कार्य करने हैं। चपत लगानेवालेके सामने अपना दूसरा गाल कर देना केवल ईसाकी आज्ञाका पालन मात्र नहीं है, इसके द्वारा हम आनन्द एवं मानसिक शान्तिके बीज डालते हैं। बुराईके बदले भलाई करना केवल असम्भाव्य आदर्श मात्र नहीं है, यह तो क्रियारूपमें आनेवाली नित्यप्रतिकी चीज है।

क्या यह सम्भव है कि कोई मनुष्य अपनी गोदमें अंगारे लिये रहे और जले नहीं? क्या घृणा करनेवाला दूसरोंसे घृणा पाये बिना रह सकता है? अपवित्रता, पाप, पीड़न तथा इनसे उत्पन्न अस्वाभाविक परिस्थितियों एवं परिणामों-पर ही अपने मनको लगाये रहना ठीक नहीं है।

जब मनुष्यका मन भगवान्की ओर जाता है, तब वह घृणा एवं प्रतीकारके विचारोंसे मुक्त हो जाता है। जब वह भगवान्की संनिधिकी अनुभूतिका अभ्यास करता है, तब उसको भगवान् नित्य साथ अनुभव होने लगते हैं और समस्त असद् विचार तत्क्षण विलीन हो जाते हैं। मनुष्य कभी भी एक साथ दो विरोधी वस्तुओं—शुभ एवं अशुभको अपने हृदयमें स्थान नहीं दे सकता।

'भगवान् नित्य मेरे साथ हैं'—इस सत्यकी अनुभूति जहाँ एक बार मनुष्यको हुई कि अद्भुत-अद्भुत बातें उसके जीवनमें आने लगती हैं। हमारे हृदय एवं मनकी गति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है और हमारा विश्वास सजीव शक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है। हमारे सम्पर्कमें आनेवाले साथी एवं मित्र लोग भी उस महान् शक्तिसे प्रभावित होते हैं, जो हमारे जीवनको नया रूप दे देती है।

जब मनुष्यका मन भगवान्के मनके साथ मिलकर चलता है, तब ऐसे-ऐसे चमत्कार सामने आते हैं, जो सांसारिक मनके लिये कभी सम्भव ही नहीं। परमार्थकी ओर दृष्टि रखनेवाला कभी बीते हुए जीवनकी असफलताओं, कष्टों, प्रतिकूलताओं तथा अपमानोंका विचार नहीं करता। पाल (Paul) हमारे सामने आदर्श उपस्थित करते हैं—'गये दिनोंकी बातोंका विस्मरण करके तथा सामने दीखनेवाली अच्छाइयोंके लिये प्रयत्नशील होता हुआ मैं उत्साह एवं तत्परतापूर्वक अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा हूँ।'

प्रेम जहाँ दूसरोंका हृदय लेता है, घृणा दूसरोंका जीवन। अपने शत्रुको प्यार करनेकी पहली सीढ़ी क्षमा-भाव है। ईसामसीहने आश्वासन दिलाया है—'यदि तुम दूसरोंसे प्राप्त प्रतिकूलताओंके लिये उन्हें क्षमा कर दोगे तो परमपिता परमात्मा भी तुमको तुम्हारे अपराधोंके लिये क्षमा कर देंगे।' ईसामसीहके इन शब्दोंमें एक ओर आश्वासन है तो दूसरी ओर यह चेतावनी है कि अपने जीवनकी निरन्तर होनेवाली भूलोंके लिये तुम्हें बराबर क्षमा-प्राप्तिकी अपेक्षा है और तुम्हें यह क्षमा-दान तभी प्राप्त होगा, जब तुम स्वयं दूसरोंके प्रति क्षमाका वितरण करोगे।

जरा क्रॉसपर स्थित ईसामसीहका स्मरण कीजिये। वातावरण कितना भयावह है! रोमन सिपाहियोंके सांघातिक क्रूर भाले चारों ओरसे उनके शरीरके मांसको छेद रहे हैं और नर-पशुओंकी भीड़ नृशंस रूपमें फूत्कार मार रही है, बीभत्स हँसी हँस रही है तथा व्यंगबाण छोड़ रही है; परंतु हमारे ईसामसीहकी मुखमुद्रापर क्या इन उत्तेजक भीषण चेष्टाओंका कुछ प्रभाव है? नहीं, उनकी मुखमुद्रा शान्त,

गम्भीर एवं दयापूर्ण है । हमलोग इस घटनाको अपने सामने रखें तो हमें अपनी छोटी-छोटी असुविधाओं, प्रतिकूलताओं और विरोधोंकी—जिनमें बहुत-से केवल कल्पनामात्र हैं—स्वाभाविक विस्मृति हो जायगी ।

चारों ओरसे आते हुए उस भीषण हृदय दहलानेवाले शोर-गुलमें ईसामसीहने केवल इतने शब्द कहे—'परम पिता ! इन सबको क्षमा-दान दीजिये' और अपने पास खड़े हुए जल्लादको, जिसने भगवान् और मानव-जाति—दोनोंके प्रति घोर अपराध किया है, आश्वासन दिया—'आज तुम भी मेरे साथ स्वर्गमें निवास करोगे ।'

यदि हम संसारसे घृणाभावको विलीन कर देना चाहते हैं तो यह प्रेमके द्वारा सम्भव हो सकता है; इसका कोई और उपाय नहीं है । 'परम पिता ! इन सबको क्षमा-दान दीजिये—'इन शब्दोंद्वारा ईसामसीहने इस बातका आदर्श उपस्थित किया है ।

प्यार करनेवालेको प्यार करना मानवताका सामान्य धर्म है । ऐसा करके हम कोई बड़ा कार्य सम्पन्न नहीं करते । परंतु घृणा और द्वेष करनेवालोंको प्यार करना दैवी गुण है । जब केवल घृणाके शब्द मिल रहे हों, उस समय दया और प्रेमसे भरी वाणी बोलना, जब व्यक्तिगत आघात हो रहा हो, उस समय सामनेवालेकी भलाई करना—यह शुभ विवेकका परिणाम है और इसका पुरस्कार भगवान् अपने प्रेमके रूपमें देते हैं ।

युद्ध, स्वार्थ एवं लोभ—ये ईश्वरीय विधानके प्रतिकूल हैं और इनका जन्म मनुष्यके हृदयमें छिपी घृणासे होता है । हमारे विचार ही क्रियाका रूप धारण करते हैं । अतः इनको अपनाकर हमें ईश्वरीय विधानका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ।

('युनिटि'से)

अकारण निन्दा, आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ?

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

एक महिलाकी अजीब समस्या है । लिखती हैं—

'मैं एक असहनीय मानसिक वेदनासे अंदर-ही-अंदर घुटी जा रही हूँ । यह दुःख मुझे गुप्त मनमें बार-बार कचोटता रहता है । लोग अकारण ही मेरी निन्दा, कटु आलोचना करते और घृणा दिखला रहे हैं, जब कि मेरा कसूर कुछ भी नहीं है । इस नैतिक अन्यायके कारण मेरी आत्मा चीत्कार कर रही है ।

कुछ महीनोंसे मैं एक ऐसे घरेलू संकटमें फँस रही हूँ कि मेरी आत्मा और गुप्त मनमें प्रतिक्षण एक ज्वाला धधकती रहती है । मुझे डर लगता है कि इस असहनीय वेदनाको सहन करनेमें असमर्थ होकर कहीं मैं मानसिक संतुलन न खो बैठूँ, पागल न हो जाऊँ अथवा उत्तेजनामें आत्महनन-जैसा भयानक पाप न कर बैठूँ ।'

उनकी समस्या

लेखिकाकी आयु ५२ वर्षके लगभग है । वृद्ध हो चुकी हैं । उन्होंने विस्तारसे अपनी आपबीती घटना इस प्रकार लिखी है—

'लगभग एक वर्ष होने आया कि मेरे देवरके पुत्रकी बहू (जो मेरी बहिनकी पुत्री भी है और जिसे मैं प्राणोंसे अधिक प्यार करती रही हूँ) का तीन हजार रुपयेकी लागतका जेवर चोरी हो गया । वह रातकी गाड़ीसे पटियालासे मेरठ गयी थी । यहाँसे जाते हुए उसने अपने ट्रंकको नहीं देखा था । दोपहरको १२ बजे ट्रंक लगाया था । तभी उसमें जेवरोंका बक्स भी छिपाकर रख दिया था । मेरठ पहुँचनेपर उसे पता लगा कि उसका जेवर गायब है । दुर्भाग्यकी ठोकर कहिये या बदकिस्मती कहिये, उस लड़कीने इस जेवरकी चोरीका इल्जाम मेरे ऊपर लगा दिया । यह बिल्कुल झूठा आरोप है । मेरे साथ अन्याय है । सरासर गलत अकारण आरोप है । मैं ५३-५४ वर्षकी वृद्धा स्त्री हूँ, जिंदगीके अनेक उतार-चढ़ाव देख चुकी हूँ ।

अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य सबको समझती हूँ। मैं आरोप लगानेवाली उस कन्याको इतना प्यार करती हूँ जितना कोई अपने पेटकी पुत्रीको भी प्यार न करता होगा। मैंने अपने हृदयका पवित्रतम निःस्वार्थ स्नेह देकर इसे पाला-पोसा और बड़ा किया है····।

दुर्भाग्यकी ठोकर है कि वही लड़की मुझे ही चोर समझकर अब घृणा, निन्दा और आलोचना करने लगी है। यही नहीं, हर किसीसे मेरी बदनामी करती है, मुझे चोर बताकर अपमानित करती है। यह मेरी आत्मा स्वीकार नहीं करती। मैं अकारण अपमानित और तिरस्कृत जीवनसे मौत बेहतर समझती हूँ।···· उफ ! मुझे अकारण ही कैसा बुरा, सो भी इस बड़ी उम्रमें, लाञ्छन लगा है। आप बताइये, मैं क्या करूँ ? कैसे उस लड़कीपर असलियत प्रकट करूँ ?

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, न्यायकारी हैं। फिर भी वे मेरा न्याय क्यों नहीं करते ? मैंने तो अपने जीवनमें भूलकर भी कोई ऐसा घृणित काम नहीं किया, जिसमें पाप हो और किसीके मनको जरा-सा भी दुःख पहुँचे। मेरी आत्मा चीत्कार करती है और कहती है कि संसारका दुर्व्यवहार एवं कपट है। बताइये, संसार आदमीकी योग्यताओं और चरित्रका सही मूल्याङ्कन क्यों नहीं करता ? मैं हर समय समाजकी इस निन्दावृत्तिकी अग्निमें धधकती रहती हूँ। जेवर तो जिसने चुराया है, वह वापस नहीं देगा। मैं कैसे उन लोगोंका संदेह दूर करूँ ? मेरी तो समझमें कुछ नहीं आता है। मन इस घृणा और आलोचनासे बड़ा ही अशान्त, निराश और दुखी रहता है। कृपया मेरी समस्याका हल बताइये।'

इस बहिनका पत्र बड़ा लंबा है, जिसमें बहुत-सी घरेलू बातें लिखी हुई हैं। मूल समस्या यही है कि अकारण निन्दा, व्यर्थकी झूठी आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ? लोग हमें बुरा कहते हैं, हमारी टीका-टिप्पणी करते हैं, हममें झूठे दोष निकालते हैं, तो हम क्या करें ?

ऊपर जिन बहिनकी समस्या दी गयी है, उन्होंने वास्तवमें कुछ भी नहीं किया। उन्हें अकारण ही निन्दा, घृणा और आलोचना मिल रही है। उनके पत्रमें सच्चे हृदयके उद्गार हैं। उनकी आत्मा सचाई स्पष्ट कर रही है।

हमारी आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। वह सर्वथा निष्कलुष है, निर्विकार है। आत्माकी आवाज ईश्वरकी आवाज है। हर व्यक्तिमें यह सचाई प्रकट करती है, मनुष्यका मार्ग-दर्शन करती है।

हम जिसे पवित्रतम मानते हैं, हमारा जो उच्चतम लक्ष्य है, उसमें तनिक-सी रुकावट पड़ते ही, आत्माके रूपमें ईश्वर बोलते हैं, मार्ग दिखाते हैं। यह आत्मा-द्वारा मार्गदर्शन ही धर्मकी प्रधान शक्ति है।

जब हमसे कोई पाप या अधार्मिक कार्य होता है, तब आत्मा हमें रोकती है और पवित्र मार्ग दिखाती है। भले कामोंको करनेमें भी एक दैवी आनन्द है। यह उस दृष्टिसे हमें मिलता है, जो हमें संतोष देता है। यह हमारी आत्माका ही आनन्द है। आत्मा ही स्थायी देव है।

जिसका जीवन निष्पाप है, जिसका जीवन पाप-मुक्त है, जो सत्कार्योंमें लगा हुआ है, दैवी कार्य कर रहा है, जिसकी वृत्तियाँ शुभ हैं, सात्त्विक हैं, उसपर झूठा कलंक लगनेसे मानसिक आघात लगना स्वाभाविक है।

सम्भव है लोग आपको भी बुरा-बुरा कहते हैं, व्यर्थ ही अकारण निन्दा या आलोचना करते हैं। भाई-बहिन, निकट सम्बन्धी, मुहल्लेवाले, समाज या जनता आपको नहीं समझते और निन्दा ही करते हैं, कलङ्क लगाते हैं, खराबियोंका बखान करते नहीं थकते। यह झूठी निन्दा बुरी जरूर लगती है, किंतु आप क्या करें ?

जो स्थिति आपकी है, वह संसारमें अनेक महा-पुरुषों, नेताओं, समाजसुधारकों और संत-महात्माओं-

की रही है। समाज उन्हें नहीं समझा; क्योंकि वह तो विचार एवं शिक्षा-प्रगतिमें पिछड़ा हुआ है। इन महापुरुषोंका घोर विरोध और कहीं-कहीं अपमान भी हुआ है। पर वे आत्मासे धैर्य और मनका संतुलन ही पाते रहे।

वे प्रतिकूलतामें भी स्थितप्रज्ञ रहे, संतुलित रहे। स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं? गीतामें कहा गया है कि जो व्यक्ति अति कामनाओंका त्याग करता है, आत्मतुष्ट रहता है, दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित रहता है, सुखोंकी प्राप्तिमें स्थिर रहता है, राग, भय, क्रोध जिसके पूरी तरह वशमें हैं, शुभ तथा अशुभ व्यवहारको पाकर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, उसीकी बुद्धि स्थिर है। वही सुखी रह सकता है।

इनपर भी निराधार कलङ्क लगा था

क्या आप जानते हैं कि माता सीतापर व्यर्थका कलङ्क लगा था, जिसके कारण उन्हें वनवासकी कठोर यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। टीका-टिप्पणी करनेवाला एक मूर्ख धोबी था, निपट अशिक्षित आदमी था! वह अपनी बुद्धिको बड़ी प्रखर समझता था। उसने परम साध्वी सीतामें बहुत-सी कमजोरियाँ निकाल डाली थीं। उनकी आफतोंकी कमी नहीं थी। तनिक कल्पना कीजिये, एक महारानीको गर्भावस्थामें वनवास, निवास और भोजनकी शत-शत असुविधाएँ········पर सीताजी तो दूधके समान पवित्र थीं। उनमें धैर्य था। उन्हें ज्ञात था कि एक दिन उनकी यशःकीर्ति सूर्यके समान चमकेगी। वे स्थिरबुद्धि रहीं। अन्तमें पुण्य चरित्रकी ही विजय हुई। अन्तमें व्यर्थका कलङ्क लगानेवालोंको लज्जित होना पड़ा।

महात्मा ईसाका चरित्र, उद्देश्य तथा कार्य अत्यन्त उच्च थे। वे शुभ और सात्त्विक युग लाने और लोगोंमें सदाचारवृत्तिको फैलानेका पवित्र कार्य कर रहे थे। लोग अधिकतर पाशविक वृत्तियोंके होते हैं। अविकसित बुद्धिवाले आदमी उनके ऊँचे उद्देश्यों तथा अच्छे संस्कारोंको न समझे। विरोध होना शुरू हुआ। निर्णय भी उनके विरुद्ध ही हुआ। महात्मा ईसाको मृत्युदण्ड दिया गया। कीलें गाड़कर सूलीपर तिल-तिलकर मरनेको लटका दिया गया। घोर अत्याचार था········पर ईसाने क्या किया?

वे बोले, 'हे ईश्वर! इन अज्ञानियोंको क्षमा करना। ये अविकसित हैं, अविवेकी हैं। इनकी बुद्धि ठीक कार्य नहीं कर रही है। ये अबोध नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'

ईसाकी आत्मा साफ थी। इसलिये क्रोधके स्थानपर उन्होंने शत्रुओंको क्षमा ही करना उचित समझा। मरते हुए भी उनके मनमें गलती करनेवाले भ्रमित मूर्खोंके लिये दया और करुणाकी ही भावना थी। उन्होंने क्षमासे ही मनका संतुलन कायम रखा था।

स्वामी दयानन्द आर्यसमाजके प्रवर्तक, भारतके महान् नेता, सुधारकोंके सिरमौर थे। अपनी समझसे हिंदू-जातिको व्यर्थके ढोंग और अन्धविश्वासोंसे मुक्त करनेमें उन्होंने बड़ी सेवाएँ की थीं।

किंतु दुनिया मूर्खों, अशिक्षितों और बहुतसे बुरे विचारके लोगोंसे भरी हुई है। स्वामीजीकी हत्याके लिये हत्यारोंने काँच पीसकर पिला दिया था!

कैसा जघन्य अन्याय था! कैसी घृणा, अकारण वैर था!!

काँचका विषैला प्रभाव उनके शरीरमें फैलता गया। स्वामीजीके सारे शरीरपर छाले उभर आये थे। उनकी साँस रुक-रुककर चल रही थी। जलनसे उनका सम्पूर्ण शरीर बुरी तरह जल रहा था। जीवन-संध्या निकट थी, दीपक बुझनेवाला था। उनकी परम पवित्र आत्मा नश्वर शरीरको छोड़नेकी तैयारीमें थी; परंतु स्वामीजी सत्य, न्याय, पुण्य, नीति और सदाचारपर दृढ़ रहनेके कारण तृप्त थे। मृत्युके मुखमें भी चुपचाप आरामसे लेटे हुए थे।

एक भक्तने पूछा, 'स्वामीजी! तबियत कैसी है?

आपके साथ तो अकारण अन्याय हुआ है। व्यर्थ ही घृणा मिली है और अकारण आलोचना की गयी है।'

स्वामीजीने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया—'तबियत ठीक है। प्रकाशकी ओर जा रहा हूँ।'

वे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे।

मरते हुए दिव्य ज्योतिकी किरणें छोड़ते हुए बोले—

'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान्!! तेरी यही इच्छा है। मैं आत्माके सुखमें प्राण त्याग रहा हूँ। मैंने सदा अपनी आत्माकी आवाजके अनुसार ही कार्य किया है! हे परमात्मदेव! इन अज्ञानियोंको क्षमा कीजियेगा।'

....

इस समाजमें मूर्ख अभी बहुत हैं। वे आपकी नीति-रीति नहीं समझते। आप उनकी परवा न करें। अपनी आत्माकी आवाज सुनें। यही ईश्वरकी आवाज है। इसीके अनुसार कार्य करें। प्रतिकूलतामें आगे बढ़ें।

संसार कुछ कहता रहे, आप उसीको मानकर संतोष कीजिये जो आपकी आत्मा कहती है। आत्मा ही आपको सही सलाह देती है। यही हमें पाप-कर्मोंसे बचानेवाली है। उसीका मार्ग न्यायपूर्ण है, सदाचारसम्पन्न है।

आत्मामें स्थिर होना ही परम तीर्थ है। सब पवित्रताओंमें आत्माकी पवित्रता ही मुख्य है। आत्मा ही हमें न्यायपूर्ण मार्ग दिखाती है।

राजा हरिश्चन्द्र, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गांधीजी, नेहरूजी आदि सभी विचारक आत्माकी आवाजमें पूर्ण आस्था रखते रहे हैं। उनके न जाने कितने विरोधी रहे होंगे, पर उन्होंने कदापि किसी विरोधकी परवा नहीं की; वे भूले हुए समाजकी थोथी और निस्सार आलोचनाओंसे कभी परेशान न हुए थे। घोर विरोधोंमें भी उनका पूर्ण मानसिक संतुलन बना रहा था।

आत्माके आदेशपर टिके रहनेसे मनुष्यमें आत्म-श्रद्धाका विकास होता है। यह आत्मश्रद्धा वरदान है। श्रद्धावान् प्रतिपलपर सफलताके दर्शन करता है। श्रद्धाहीनको ही असफलता मिलती है। आत्मश्रद्धा-विहीन व्यक्ति निष्प्राण ही है।

जब आप अन्धकारमें भटक रहे हों, रास्ता नजर न आता हो, संगी-साथी कोई सलाह न दे, तो आप कृपया आत्माकी आवाज सुनें और उसपर दृढ़ रहें। यह आत्मा ईश्वरका रूप है। सही मार्ग दिखानेके लिये सदा-सर्वदा आपके साथ है।

पाप कहाँ है?

जो बात आपकी आत्मामें चुभे, जिस बातका आपकी आत्मा विरोध करे, वही पाप है। कोई व्यर्थ ही घृणा करे तो करने दीजिये। कुछ परवा नहीं। व्यर्थकी आलोचनाओंसे परेशान होनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। बस, आत्मा आपके साथ रहे, यह ध्यान रखिये।

जिनकी आत्मा चुप है, जिन्होंने उसकी आवाजकी परवा नहीं की है, वे ही अभागे हैं। आत्मा निष्पाप है। आप भी निर्मल हैं। फिर कोई कुछ कहता, इससे आपको क्या प्रयोजन?

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(मुण्डकोपनिषद् २। २। १०)

अर्थात् आत्माके प्रकाशसे ही यह सब जगत् भासित होता है।

निधानं सर्वशक्तीनां तेजस्तेजस्विनां तथा।
नात्मानमवमन्येथा भ्रातर्मोहवशं गतः॥

'हे भाई! अज्ञानवश होकर अपनी आत्माका अपमान न करो; क्योंकि वह सारी शक्तियोंका आश्रय है और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थोंका तेज है।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आनन्दके आँसू

'हार नहीं मिल रहा है। किसीसे कुछ कहते भी बहुत डर लगता है। अभी तीन ही दिन ससुराल आये हुए हैं, एकदम नयी जगह है। किसी प्रकार भी मन नहीं लग रहा है। रुलाई आ रही है; ससुरालवाले समझते हैं पीहरकी याद आती होगी, इसीसे बहूरानीकी रोनी-सी सूरत हो रही है।'

सुशीला पहले-पहल गौना करवाकर कलकत्ते आयी थी। पढ़ी-लिखी सयानी समझदार है। गहना-कपड़ा बहुत सामान साथ लायी है। ससुरालमें बड़ा आदर-सत्कार हो रहा है। सब ओर प्रसन्नता छायी है। सभी नयी बहूका लाड़-प्यार करते हैं। कलतक बहू भी खूब हँस-खेल रही थी। कल शामसे ही उसके गलेका हीरेका हार नहीं मिल रहा है। हार बहुत कीमती है, पर सुशीलाको कीमतकी उतनी चिन्ता नहीं है। वह अपने पिताजीकी लाड़िली बेटी है, पिताजी उससे भी अधिक मूल्यका हार नया बनवा देंगे और उसको हार खो जानेके बाबत कुछ कहेंगे भी नहीं। पर यह बात तो पिताजीसे मिलनेपर न होगी। अभी तो वह ससुरालमें है। कलको सासको पता लग जाय, वह पूछेगी—'हार कहाँ है?' तो वह क्या उत्तर देगी। इसीसे वह बड़ी परेशान है।

कल दुपहरके बाद वह बहुत-सी समवयस्का स्त्रियोंसे घिरी हुई थी। वे सब बहुत प्यार कर रही थीं। उसके गहने-कपड़े देख रही थीं। उसे खिलाती-पिलाती थीं। सुशीला इस आनन्दोल्लासमें भूली थी। शामको उसने देखा तो गलेमें हार नहीं है। तभीसे वह उदास है।

किसी तरह रात निकली। उसने अपने मानस-कष्टकी बात किसीसे नहीं कही। दूसरे दिन प्रातःकालसे ही सुशीला-की उदासी और बढ़ गयी। मानसिक वेदनाके प्रभावसे उसके सिरमें भयानक दर्द हो गया। इधर आनन्दोत्सवमें लोग मस्त थे, उधर वह अंदर जाकर सिर पकड़े बिछौनेपर उल्टी पड़ गयी। बड़ा भय था; अभी बात खुल जायगी तो मुझे लोग क्या कहेंगे।

इसके कुछ ही देर बाद 'सागरमल ब्राह्मणकी पत्नी' नामसे ख्यात एक ब्राह्मणी आयी। वह घरमें बराबर आया करती थी। सबके साथ उसका सद्भाव था। बहुत गरीब थी, पर थी बड़ी ही नेक और हँसमुख। वह सीधी नयी बहूके कमरेमें चली गयी। बहू तो सिर पकड़े पड़ी थी। ब्राह्मणीने उससे पूछा तो वह इतना ही कह सकी कि 'सिरमें बड़ी पीड़ा है।' ब्राह्मणीने अपनी अँगियामेंसे एक हार निकालकर बहूसे कहा—'बहू! तेरा सिर तो दुखता है, पर मैं कामसे आयी हूँ। कल जब तूने नहानेके समय शामको कपड़े-गहने उतारकर रक्खे थे, उस समय तेरा हार तो बाहर नहीं रह गया था न? सीढ़ियोंमें एक हार कूड़ेके साथ पड़ा था। मैं जब जा रही थी तो मैंने देखा और उठा लिया। कल तेरे गलेमें मैंने ऐसा हार देखा था। अतः मैं उसी समय यहाँ आ रही थी। पर घरसे लड़की बुलाने आ गयी। उसके पिताजीको ज्वर हो गया था, इससे मैं चली गयी×××।' एक ही श्वासमें ब्राह्मणी इतनी बात कह गयी। सुशीला तो हारका नाम सुनते ही अकस्मात् उठ बैठी। उसके सिरका दर्द जाता रहा और ब्राह्मणी-की बात पूरी होनेके पहले ही वह बोल उठी—'बाईजी! कहाँ है वह हार?' ब्राह्मणीने हार उसके हाथपर रख दिया। अब तो सुशीलाके आनन्दका पार नहीं रहा। उसके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु आ गये। घरमें हार खोनेकी बातका सुशीलाके सिवा किसीको भी अबतक पता ही नहीं था। और इसी बीच ब्राह्मणीने हार लाकर सुशीलाको दे दिया। सुशीला इसके इनाममें उसे क्या दे? वह पैर पकड़कर रोने लगी। कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये उसके पास शब्द नहीं थे। कुछ समय बाद आश्वस्त होनेपर सुशीलाने अपनी हालत सुनायी और पाँच हजारके नोट लाकर ब्राह्मणीके चरणोंपर रख दिये। ब्राह्मणीने बड़े आदर-स्नेहसे नोट वापस करते हुए कहा—'मुझे तो पता भी नहीं था कि तेरा हार गिर गया है। सब लोग आनन्दोल्लासमें थे। तुझे भी पता नहीं था। हार कहीं नीचे गिर गया होगा और कूड़ेके साथ नौकरने उसे गिरा दिया। बड़ा अच्छा हुआ, भगवान्‌ने कृपा की कि मैंने देख लिया। अब तेरी खुशी देखकर ही मैं तो निहाल हो गयी। मुझे भारी इनाम मिल गया। फिर इसमें इनामका काम ही क्या है? दूसरेकी चीजपर मन चलाना बेईमानी है और दण्ड पानेका काम है। दूसरेकी चीज उसको दे देना तो

सहज कर्तव्य है। फिर इसमें तो तुझको इतनी प्रसन्न देखनेका बड़ा पुरस्कार मुझे मिल गया है।' सुशीला गद्गद हो गयी। ब्राह्मणी भी आनन्दाश्रु बहाने लगी!

—गिरधारीलाल

(२)

कर्मवीर जोला

एमील जोला (१८४०–१९०२) फ्रांसके प्रथम श्रेणीके उपन्यासकारोंमें माने जाते हैं। उनका प्रारम्भिक जीवन बड़ी दरिद्रावस्थामें कटा। 'ला एसोमॉ' नामक उनके उपन्यासके छपते ही उनपर चारों ओरसे धन और यशकी वर्षा होने लगी और उनकी गणना फ्रांसके प्रमुख नागरिकोंमें होने लगी, परंतु जोलाको समारोह एवं सार्वजनिक जीवनमें कोई रुचि नहीं थी। वे एकान्तमें बैठकर साधना करनेवाले साहित्यसेवी थे। एक बार ऐसा हुआ कि उनकी कुम्भकर्णी निद्रा भङ्ग हुई और उन्हें खुलकर सार्वजनिक जीवनमें भाग लेना पड़ा।

ऐसा हुआ कि १८९४में फ्रांसके कुछ गोपनीय सैनिक तथ्य उसके प्रधान शत्रु जर्मनीके हाथ लग गये। संदेह ड्रेफस नामक एक तोपखानेके यहूदी कप्तानपर हुआ। ड्रेफसका कोर्टमार्शल हुआ और उन्हें आजीवन कालेपानीका दण्ड मिला। फ्रांस उन दिनों अपने कालेपानीके दण्डितोंको डेविलके द्वीपमें भेजा करता था, जहाँकी भयानक गरमी सहन न कर सकनेके कारण बंदी कुछ वर्षोंमें ही तड़प-तड़पकर मर जाते थे।

फ्रांसके कुछ साहित्यकोंका विश्वास था कि ड्रेफस निर्दोष है, परंतु म्याऊँका ठौर कौन पकड़े। राज्य, अधिकारी और जनता तीनों ही बुरी प्रकारसे उत्तेजित थे। जिस समय ड्रेफसका कोर्टमार्शल हो रहा था उस समय जनता अदालतके बाहर चीख-चीखकर चिल्ला रही थी, 'देशद्रोहीको प्राणदण्ड', 'ये यहूदी हैं', 'यहूदी विश्वासघाती होते हैं' इत्यादि-इत्यादि। ऐसे विकट समयमें जोला कमर कसकर न्यायकी रक्षाके लिये कूद पड़े। उनके आन्दोलनसे प्रभावित होकर एक उच्च सैनिक अधिकारी मेजर पिकार्ट चुपचाप गुप्तरूपसे मामलेकी छान-बीन करने लगे और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि ड्रेफस निर्दोष है। असली अपराधी मेजर एस्टरेजी नामका एक उच्च अधिकारी है। फलतः एस्टरेजीका कोर्टमार्शल हुआ; परंतु धन एवं सत्ताके बलपर वह निर्दोष छोड़ दिया गया और फ्रांसीसी जनताने कचहरीमें ही गगनभेदी नारे लगाये, 'एस्टरेजी जिंदाबाद', 'फ्रांस अमर है', 'यहूदियोंका नाश हो', 'देशद्रोहियोंका मुँह काला'।

जोलाने सुना तो तड़पकर रह गये। दो दिन बाद ही १३ जनवरी सन् १८९८ को पेरिससे निकलनेवाले 'ला आरोरे' नामक समाचार-पत्रमें उनका 'सम्पादकके नाम पत्र-स्तम्भ'में एक पत्र छपा जो फ्रेंच साहित्यमें एक अमर स्थान रखता है। जिसने भी उस पत्रको पढ़ा, तड़प उठा। फलतः जोलापर मानहानिका अभियोग चला। वे दण्डित हुए; परंतु अपीलमें छूट गये। छूटते ही दूसरा अभियोग चला और लक्षण ऐसे थे कि अबकी बार जोलाको कठोर दण्ड मिलेगा और अपीलमें भी वे नहीं छूट सकेंगे। फलतः मित्रोंके सुझावके अनुसार वे फ्रांस छोड़कर भाग गये और एक वर्षसे भी ऊपर समयतक इंग्लैंडमें ठोकरें खाते फिरते रहे। फ्रांसकी सरकारने उनका नाम सम्मानित व्यक्तियोंकी सूचीसे काट दिया; परंतु जोला विचलित नहीं हुए। वे परदेशसे बराबर आन्दोलन चलाते रहे। अन्ततः फ्रांस-सरकारको झुकना पड़ा। जोलाके विरुद्ध अभियोग वापस लिये गये और वे ४ जून १८९९ को फिर अपनी जन्मभूमिको लौटे। एक दूसरा कोर्टमार्शल बैठा, जिसने ड्रेफसको बंदी-गृहसे मुक्त किया। उन्हें न केवल सेनामें अपना पुराना पद फिर मिला, बल्कि उनकी पदोन्नति भी की गयी। एस्टरेजी दण्डित किया गया और जिन अधिकारियोंने ड्रेफसके विरुद्ध जाल रचा था, वे सब अपने पदसे पृथक् किये गये।

इस कठोर परिणामके कारण जोलाकी मृत्यु २९ सितम्बर सन् १९०२ को हो गयी।

—श्रीराजेन्द्रप्रसाद जैन, तिस्सा

(३)

अशिक्षित; किंतु सुसंस्कृत

ग्रीष्मकी जलती दोपहरीमें धूलिका बवंडर उड़ाती एस० टी० बस मानो दौड़कर थक गयी हो तथा असह्य तापसे संत्रस्त हो गयी हो, इस प्रकार कोड़ियाखाड़ गाँवके समीप नीमकी शीतल छायामें एक भारी फूत्कार छोड़कर ऐसे खड़ी हो गयी, जैसे थकावट उतारने खड़ी हुई हो।

इस बसके आनेकी प्रतीक्षामें ही खड़ा हो, इस प्रकार

एक मनुष्य वहाँ स्वच्छ चमकते प्याले तथा शीतल जलका डोल लिये पहिलेसे खड़ा था। बसके रुकते ही प्यास तथा गरमीसे व्याकुल यात्री पानीकी माँग करने लगे। वह पानी पिलानेवाला व्यक्ति पहिलेसे ही इस परिस्थितिसे परिचित हो, इस प्रकार शान्त था और जितनी शीघ्रता सम्भव थी, उस शीघ्रता तथा तत्परतासे पानी पिला रहा था। वह इसलिये दौड़-धूप कर रहा था कि बसमें ठंडा पानी पिये बिना कोई छूट न जाय।

सदाकी रीतिके अनुसार कुछ यात्री पानी पीनेके पश्चात् पानी पिलानेवालेको कुछ सिक्के देने लगे; किंतु उसने नम्रतापूर्वक कुछ भी लेना अस्वीकार कर दिया। यह देखकर मैं विचारमें पड़ गया। असह्य मँहगाईके इस जमानेमें थोड़ा-सा काम करके बदलेमें बहुत पानेकी आशा करनेवाले लोगोंकी कमी नहीं है। ऐसी अवस्थामें श्रमका बदला मिलता हो, उसे भी लेना अस्वीकार करनेवाले इस मनुष्यका व्यवहार आश्चर्यजनक था। इसलिये यात्री जो कुछ प्रसन्नतासे दे रहे हैं, उसे ले लेनेकी सलाह मैंने उसे दी।

मुझे उस पानी पिलानेवालेने उत्तर दिया—'साहब! मैं, मेरी पत्नी और एक कन्या—ये केवल तीन सदस्य मेरे परिवारमें हैं। मैं ग्राम-पञ्चायतमें चपरासीका काम करता हूँ। उससे हम तीनोंका भरण-पोषण हो, इतना मुझे मिल जाता है। अब अधिक पानेका लोभ मुझे किसलिये करना चाहिये?'

इस बातचीतके समयमें मानो मोटरकी थकावट दूर हो गयी हो, इस प्रकार वह दौड़ने लगी। पानी पिलानेवाला भी दोनों हाथ जोड़कर ऐसे खड़ा रहा, जैसे यात्रियोंको विदाई कर रहा हो; उसके सम्बन्धमें मुझे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा थी। बसमें बैठे यात्रियोंसे पूछनेपर एकने बताया कि पिछले पाँच वर्षसे बिना किसी वेतनके केवल आत्म-संतोषके लिये ये भाई पानी पिला रहे हैं। इनका यह प्याऊ रात-दिन चलता है। दोपहरको बस आनेके समय तो वे अवश्य उपस्थित रहते हैं।

यह सुनकर केवल सेवामें संतोष माननेवाले, सेवाव्रती, अयाचक, अपरिग्रहव्रती, ग्रामीण, अशिक्षित; किंतु सुसंस्कृत मानवको मैंने मन-ही-मन वन्दना की। (अखण्ड आनन्द)

—मणिभाई आर० सोलंकी

(४)

कृपालुकी असीम माया

गत दिसम्बर ६२ की बात है। छुट्टियोंके दिन थे। मैं अपने घरके स्त्री-बच्चोंके साथ विश्वविख्यात 'जोगफाल्स' देखने गया। 'जोगफाल्स' प्रकृतिनिर्मित भू-स्वर्ग है। यहाँ शरावती नदी शरवेग-गामिनी बनकर ९०० (नौ सौ) फुट ऊँचाईके एक पहाड़से नीचे गिरती है। प्रकृति माताकी इस अनुपम सौन्दर्य-सुधाका पान करनेके लिये देश-विदेशके सैकड़ों यात्री यहाँ आते रहते हैं। हमलोग सागर (जोगफाल्ससे २२ मील दूरपर स्थित एक छोटा-सा आबादीवाला शहर) से निकलकर बसद्वारा दुपहरको जोगफाल्स पहुँचे। वहाँके दर्शनीय स्थानोंको देखते-देखते रात हो गयी। वापस लौटनेके लिये कोई सवारी-वाहन न मिलनेके कारण हमें रातको वहीं ठहरना पड़ा।

क्रिसमसके दिन थे। यात्रियोंसे स्थान भरा था। हमने बहुत देरतक होटलोंमें तथा अतिथि-भवनोंमें जगहकी तलाश की; पर हमें ठहरनेके लिये कहीं जगह नहीं मिली। हम बड़ी परेशानीमें पड़ गये। हमारे साथ सिर्फ बच्चे और औरतें थीं। वे सब कीमती गहने पहने थीं। रातभर निराश्रित बनकर रास्तेपर पड़े रहकर बिताना था।

रातके ११ बज गये। हम सब अत्यन्त निराश-उदास हो गये। ठंड बहुत लग रही थी। शहरसे अलग फाल्सके नजदीक एक सरकारी विशाल अतिथिशाला थी। जब हम अत्यन्त ही निराश तथा उदास होकर आखिरी आशासे वहाँ पहुँचे तो दरवाजे सब बंद थे और बाहर आँगनमें भी बहुत लोग सो रहे थे। हमारे पास बिछौना भी नहीं था। किसी प्रकार रास्तेके किनारे बैठे-बैठे जागरण करनेकी नौबत आ गयी। इधर-उधर भटकने-फिरनेसे हाथ-पैर थक गये थे। बच्चे रो रहे थे। इस करुणामय स्थितिमें एक ओर बैठकर मैं मन लगाकर भगवान्से प्रार्थना करने लगा। 'अनाथो देवरक्षितः'। उस प्रभुकी लीलाको कौन जान सकता है। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि एक सज्जन मोटरसे उतरकर हमारे पास आये और उन्होंने हमारी सारी हालत सुनी। तदनन्तर वे हमलोगोंको अपनी मोटरमें बिठाकर बड़ी

उदारतासे अपने भवन ले गये । वहाँ पहुँचकर उन्होंने हम सबकी कितने सदाग्रहसे अतिथि-सेवा की, इसे लिखनेमें मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ । उन्होंने हमारा स्नेहपूर्ण हृदयसे ऐसा आदर-सत्कार किया मानो हमलोग उनके कोई खास आदरणीय आत्मीय हों ।

पूछनेपर मालूम हुआ कि वे सद्गृहस्थ उस शहरके होटल-संघके मालिक हैं तथा एक बड़ा होटल स्वयं चला रहे हैं ।

निश्चय ही भगवान्की अहैतुकी कृपा अति विस्मयकारी है । पर साथ ही उन गृहस्थका यह बर्ताव कितना आदर्श और अनुकरण करनेयोग्य है । हमलोग निराश्रय-से थे, उनसे अपरिचित थे, हमारी उनसे कोई माँग भी नहीं थी, उन्होंने स्वयं आकर हमें आश्रय-दान दिया । उनकी इस सहृदयताका अनुकरण करनेसे बहुतोंको सुखी किया जा सकता है ।

—एल० टि० गणपति एम्० एल्० हळि (सागर)

(५)

जिसका है उसीको मिलना चाहिये

बसो निवासी स्व० भाईलाल भाई व्यासके जीवनके ये दो प्रसङ्ग हैं—

एक समय वे सूरतसे कोई प्रदर्शनी देखने बड़ौदा गये थे । वहाँसे लौटते समय समाचार मिला कि अहमदाबादसे मेल-ट्रेन खचाखच भरी आ रही है, इसलिये सूरतकी टिकट नहीं मिलेगी । इसी मेल-ट्रेनसे उन्हें सूरत अवश्य लौटना था, अतः जो भी परिणाम हो सकता था (बिना टिकट ट्रेनमें चलनेका) उसका पूरा विचार करके वे मेलमें बैठ गये । सूरतमें उन्हें किसीने रोका नहीं; वे सुविधापूर्वक घर पहुँच गये । तब क्या उन्होंने टिकटकी चोरी की ? नहीं । उन्होंने दूसरे दिन सबेरे उठकर पहला काम यह किया कि स्टेशन गये और सूरतसे बड़ौदाका टिकट लेकर उसे फाड़कर फेंक दिया ।

उनसे जब पूछा गया कि टिकटके जो पैसे बचे थे, उनसे किसी संस्थाकी सहायता करनेके बदले सामान्य दृष्टिसे अटपटा लगनेवाला यह कार्य आपने क्यों किया ? तो उन्होंने बताया—'जिसका जो अधिकार है, उसीको वह मिलना चाहिये ! रेलवेका पैसा मेरेपर ऋण निकला । वह मुझे एक या दूसरी किसी भी रीतिसे उसे लौटाना चाहिये था । मैं किसी संस्थाकी सहायता इससे कैसे कर सकता था । ऐसा करनेकी सम्मति मुझे रेलवे अधिकारियोंने तो दी नहीं थी । इस प्रकार एकका धन उसकी सम्मतिके बिना दूसरेको देकर मैं दुगुने पापका भागी बना होता ।'

× × ×

एक बार उनके बड़े पुत्रने उनके छोटे पुत्र (अपने छोटे भाई) को कार्ड लिखा । छोटे पुत्रने कार्ड पढ़ा, उसे लगा कि यह पत्र पिताजी भी पढ़ लें तो अच्छा । इसलिये उसने अपने नामको रखकर शेष पता काट दिया और अपने पिताजीका नाम-पता नीचे लिख दिया । जैसे वह अपने पिताके पास हो और कार्ड उसे उस पतेपर मिलनेवाला हो । यह करके कार्ड उसने डाकमें डाल दिया । ऐसा करनेका उसका तात्पर्य यह था कि उसे दूसरा पोस्टकार्ड खर्च न करना पड़े और पिताजी सब समाचार जान लें ।

श्रीभाईलाल भाई व्यासजीको जैसे ही यह कार्ड मिला, उन्होंने पता देखा और तुरंत कार्डके मूल्यका टिकट पोस्ट-आफिससे खरीदकर उन्होंने फाड़ दिया । फिर उन्होंने अपने पुत्रको लिखा—'तुमने जो पोस्टकार्ड भेजा, वह मुझे मिल गया । लेकिन अब कभी आगे ऐसा मत करना । ऐसा करना पोस्टकार्डकी चोरी कही जाती है । मैंने पोस्टकार्डके मूल्यका टिकट लेकर फाड़ दिया है । मुझे यह कार्ड पढ़नेके लिये भेजनेकी इच्छा ही थी तो दूसरे कार्डपर उसकी प्रतिलिपि करके अथवा कार्डको लिफाफेमें डालकर तुम भेज सकते थे । इसलिये अब ध्यान रखना फिर ऐसी भूल न हो ।'

(अखण्ड आनन्द)

—लल्लुभाई ब. पटेल

(६)

गो-रोगनाशक मन्त्र और दवा

सेवामें गो माताके लिये एक सिद्ध साबर मन्त्र लिखकर भेज रहा हूँ, आशा है उपकारार्थ अपने 'कल्याण'में प्रकाशित

करेंगे—मन्त्रमें जरा भी हेर-फेर नहीं करके अविकल छाप देना चाहिये—

मन्त्र—

ॐ पर्वत ऊपर परसी गाँव तहाँ बसैं पहलू पाँडे नाँव, पहलू पाँडेके सात पुत्र खँगा खोरा उरका घुरका घुमरी छाव छय—पठाईं दोहाई पहलू पाँडेकै जोई दुख रहे तो तोहरोंके पाप होय ॥

विधि—इस मन्त्रको रविवारके सूर्योदयके पहले तोड़े हुए पीपलके पत्तेपर काली स्याही और कलम (देशी कलम नरकट या सरहरीकी लोहेकी कलमसे नहीं) से लिखकर गूगुलका धूप देना, पश्चात् गायके बायें और बैलके दाहिने सींगमें नये श्वेत वस्त्रमें लपेटकर बाँध देना—इससे गाय, भैंस, भेंड़-बकरी इत्यादि सभी जानवरोंकी बीमारी दूर हो जाती है।

दूध बिगड़ने (खून-सरीखे दूध निकलने) जानवरों (गायों-भैंसों) के दूध निकालते समय कूदने-छटकने-मारनेको दौड़ने इत्यादि रोगोंके लिये एक विचित्र गुणकारी ओषधि (जड़ी) है, जो नैपालकी तराईके जिलों (गोरखपुर-बस्ती-चम्पारन इत्यादि) में मिलती है। उस जड़ीका एक टुकड़ा दतुअँन-सरीखा एक इंचका लेकर धूप देकर दूध देनेवाली गाय-भैंसोंके सींगमें बाँधनेसे जानवर कुछ देरमें ही अच्छा हो जाता है। उस जड़ीका नाम 'गँभार' है। आम-महुआ-सरीखा पेड़ होता है। इसका पत्ता पान-सरीखा होता है। देहातके लोग इस जड़ीको अच्छी तरहसे जानते हैं।

—शिवचैतन्य ब्रह्मचारी, महेश्वर (नेमाड़)

(७)

बिच्छूकी सिद्धौषध

जिस जगह बिच्छू काटा हो, उस जगहपर दो तोले गुड़में आधा तोला नमक, एक रत्ती फिटकरी और एक रत्ती पोटैशियम परमैंगनेट मिलाकर बाँध देनेसे कुछ ही देरमें जहर उतर जाता है। हमने बहुत लोगोंपर प्रयोग करके देख लिया है। अनुभवका अनादर ही अज्ञान है।

—पां० भी० देवरड्डि, कब्बूर (बेलगाँव)

श्याम-श्यामाका उदार निर्जन-निकुञ्ज

तुम छाये आ उरमें जबसे कर उस पर निज पूर्णाधिकार।
तबसे सब भय-भ्रम भाग गये, मर गये मान-मद-अहङ्कार ॥
मिट गये भोग-सुख-काम, सूख सब गये विषय-आराम वाम।
हो गये ध्वंस सब दुरित-दोष, जल गयीं ईषणा दुःखधाम ॥
फैला प्रकाश अतिशय उज्ज्वल प्रगटे सब सद्गुण दिव्य साज।
लीला नित होने लगी ललित लावण्यसार प्रगटा समाज ॥
हो गया दिव्य जीवन, मधुमय वह चली अमित रस-सुधाधार।
प्लावित कर सारे देश-काल, हो गया मग्न सब आर-पार ॥
छा गया नित्य बढ़ता सुन्दर चिन्मय सुषमामय लतापुञ्ज।
बन गया श्याम-श्यामाका यह अन्तस् उदार निर्जन निकुञ्ज ॥

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५.०० रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५.०० रुपये या दस पौण्ड और सजिल्दके लिये १५०.०० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीराधा-माधव-चिन्तन (दूसरा संस्करण)

ग्रन्थकार—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७७६, चित्र ११ तिरंगे, ४ सादे, पूरे कपड़ेकी जिल्द, ऊपर सुन्दर रैपर, मूल्य ४ रुपया, डाकखर्च रु० १.८०, कुल रु० ५.८०।

तीन साल पहले इस ग्रन्थका प्रथम संस्करण निकला था जिसे प्रेमी महानुभावोंने बहुत पसंद किया। इस बार पुस्तकमें कई महत्त्वपूर्ण प्रवचन और जोड़े गये हैं अतः कलेवरमें ११२ पृष्ठ बढ़े हैं; इसलिये मूल्य ५० न० पै० बढ़कर पूरा ४ रुपया हो गया है। अनेक संत-महात्माओं एवं साहित्य-महारथियों और व्रज-साहित्यके मर्मज्ञोंने प्रशंसात्मक सम्मतियाँ भेजी हैं, जिन्हें पुस्तकके अन्तमें दे दिया गया है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीरचित

विनय-पत्रिका और गीतावलीके मूल्यमें २५ न०पै०की कमी

श्रीतुलसी-ग्रन्थावलि-प्रचार-निधिकी ओरसे उपर्युक्त दोनों पुस्तकोंके मूल्यमें २५ नये पैसे प्रति पुस्तककी कमी की गयी है। अतः इस समय इनका मूल्य एक रुपयेके बदले ७५ नया पैसा हो गया है। गीताप्रेस-की सभी दूकानों तथा स्टेशन-स्टालोंपर ये पुस्तकें घटे हुए मूल्यपर मिल सकेंगी। बाहरके ग्राहकोंको डाक-खर्च अलगसे लगेगा।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६५

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ६२ न० पै० तथा बढ़िया जिल्द ७५ न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग।

सन् १९६५ की दैनन्दिनीका एक लाख प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गया, इसलिये पचीस हजार प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा। आर्डर इतने अधिक आ रहे हैं कि उसके भी बहुत शीघ्र समाप्त हो जानेकी आशा है।

☛ दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेकी कृपा करें। इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्य. ('का आगामी विशेपाङ्क

भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क

(१) 'कल्याण'का आगामी विशेपाङ्क 'श्रीभगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' निकलेगा। इस अङ्कमें भगवन्नाम तथा प्रार्थनाके सम्बन्धमें बहुत बड़े-बड़े साधु-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों तथा अनुभवी महापुरुषोंके निबन्ध रहेंगे। भगवन्नाम तथा प्रार्थनासे होनेवाली चमत्कारमयी घटनाएँ रहेंगी। वर्तमान युगमें, जहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक संकटोंसे सारा संसार ग्रस्त है तथा मानव-जीवनकी सफलताके अभिलाषी परमार्थ-साधक भी सफलताका कोई सरल मार्ग नहीं पा रहे हैं—इस 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क'से उन सभीको सफल प्रकाश प्राप्त होगा। इसमें सदाकी भाँति लगभग सात सौ पृष्ठोंकी सामग्री, सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र रहेंगे।—छपाई शीघ्र आरम्भ होने जा रही है।

(२) इस वर्ष महँगी तथा खर्च और भी बढ़ा है, अतः मूल्य बढ़ानेके प्रस्ताव भी आये; परंतु मूल्य न बढ़ाकर वह रु० ७·५० ही रक्खा गया है। पृष्ठ-संख्या भी वही ७००के लगभग होगी। इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत रु० ७·५० (सात रुपये पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी अभीसे रुपये भेजकर अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिये, अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा और दूसरा संस्करण न छपेगा तो प्राप्त होना सम्भव नहीं होगा।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखनेकी कृपा अवश्य करें और नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश—सब बहुत साफ-साफ बड़े अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें। रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजें। डाक-तार-विभागके महानिदेशक (D. G. P & T) के परिपत्र क्रम-सं० १८ दि० १९-८-६४ के अनुसार जिन मनीआर्डर फार्मोंपर पानेवाले या भेजनेवाले किसीका भी नाम-पता छपा हो वे फार्म पहलेसे बिना मोहर लगे दि० ३१ दिसम्बर १९६४ तक किसी भी डाकखानेमें लगाये जा सकते हैं। अतः छपा हुआ मनीआर्डर-फार्म साथ जा रहा है। केवल विशेपाङ्कका मूल्य भी रु० ७·५० है, अतः पूरे वर्षका ही ग्राहक बनना उचित है।

(४) जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो वे कृपया एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'कल्याण-कल्पतरु-विभाग' 'कल्याण-विभाग'से पृथक् हैं। अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकोंके नाम अलग पत्र-व्यवहार करना चाहिये और रुपये भी अलग-अलग उन्हींके नामसे भेजने चाहिये।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य रु० ८·७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०